

## द्वितीय अध्याय

# अवधारणात्मक विवेचन

---

प्रस्तुत अध्याय में शोध विषय से सम्बन्धित मूल अवधारणाओं पंचायती राज सुशासन, सूचना का अधिकार एवं नेतृत्व का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। अध्ययन में केन्द्रीय अवधारणा के रूप में 'सुशासन एवं महिला नेतृत्व रही हैं अतः विस्तृत रूप में महिला नेतृत्व का सुशासन के प्रति कितना संज्ञान एवं अभिमुखीकरण है जो कि सूचना के अधिकार द्वारा गति प्राप्त करता है को देखने का प्रयास किया गया है। एतदर्थ लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप में पंचायती राज से ही 'सुशासन' को स्थापित एवं सुदृढ़ करने पर बल दिया है। पंचायती राज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लोकतंत्र की प्रथम सीढ़ी पर ही सुशासन की स्थापना रहा है, जिससे प्रशासन एवं सुशासन को गति प्रदान की जा सके तथा सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण हो सके। अध्याय को व्यवस्थित रूप प्रदान करने हेतु सर्वप्रथम पंचायतीराज को विवेचित एवं विश्लेषित करते हुए सुशासन, सूचना का अधिकार तथा नेतृत्व को विश्लेषित किया गया है।

### पंचायती राज अवधारणा : विवेचन एवं विश्लेषण

लोकतंत्र मूलतः विकेन्द्रीकरण पर आधारित शासन व्यवस्था होती है। अतः शासन के ऊपरी स्तरों (केन्द्र एवं राज्य) पर कोई भी लोकतंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि निचले स्तर पर लोकतांत्रिक मान्यताएँ एवं मूल्य शक्तिशाली न हों। यदि लोकतंत्र का अर्थ जनता की समस्याएँ एवं उनके समाधान की प्रक्रिया में जनता की पूर्ण तथा प्रत्यक्ष भागीदारी है, तो प्रत्यक्ष, स्पष्ट एवं विशिष्ट लोकतंत्र का प्रमाण उतना सटीक अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा जितना स्थानीय स्तर पर।

इसका कारण यह है कि वहाँ जनता और उसके प्रतिनिधियों तथा शासक एवं शासितों के बीच सम्पर्क अपेक्षाकृत निरन्तर, सर्तकतापूर्ण एवं अधिक नियंत्रण पूर्ण होते हैं। लोकतंत्र की सर्वश्रेष्ठ पाठशाला उसकी सफलता की सबसे अधिक गारंटी स्थानीय स्वायत्त शासन का संचालन है। भारत जैसे सघन आबादी एवं क्षेत्रीय विभिन्नता वाले विशाल देश में लोकतंत्र को सार्थक एवं कल्याणोन्मुख बनाने के लिए विकेन्द्रीकरण अंतनिर्हीत अनिवार्यता है। उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर शक्ति का अन्तरण होना लोकतांत्रिक राजव्यवस्था में आवश्यक एवं वांछित प्रक्रिया है। लोकतंत्र में संप्रभुता का प्रवाह उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर होना चाहिए। लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में पंचायत राज ही वह माध्यम है जो शासन को सामान्य जन के दरवाजे तक लाता है। लोकतंत्र की संकल्पना को अधिक यथार्थ में अस्तित्व प्रदान करने की दिशा में पंचायती राज व्यवस्था एक ठोस कदम है।<sup>1</sup> वर्तमान में पंचायती राज की स्थापना भारतीय लोकतंत्र की विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। क्योंकि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायती राज दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। पंचायती राज लोकतंत्र का प्रारम्भिक एवं प्रत्यक्ष रूप है, अतः पंचायतें हमारे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ हैं।<sup>2</sup>

पंचायती राज व्यवस्था में जनता और सत्ता का आपसी समन्वय है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। भारतीय संविधान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है। लोकतंत्र अब्राहम लिंकन के अनुसार “जनता का, जनता के द्वारा जनता के लिए शासन है” इसी लोकतांत्रिक अवधारणा का परिणाम है विकेन्द्रीकरण, जिसके फलस्वरूप शासन का वास्तविक स्वरूप स्थानीय स्तर पर पंचायती राज व्यवस्था में जिला परिषद, पंचायत समिति, ग्राम पंचायत एवं ग्राम सभा में देखा जा सकता है।<sup>3</sup> वास्तव में पंचायती राज अथवा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण हमारी प्राचीन पंचायतों का ही बढ़ा हुआ रूप है पर आधुनिक युग के अनुरूप इसने नए उद्देश्यों, नई शक्ति और नए तरीकों का

समावेश कर लिया है। पंचायती राज में विकास का कार्य सक्षमता की दृष्टि से तीन स्तरों पर इस तरह बाँट दिया है कि ग्रामीण सुशासन का दायित्व केन्द्रीय सरकार से हटाकर जनता की त्रिस्तरीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के हाथ में आ गया है, जो लोकसभा से ग्राम सभा तक मिस्र के पिरामिड का आकार बनाते हैं। भारतीय संविधान में 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन विधेयक निचले स्तर पर लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने का एवं ग्रामीण सुशासन और सामाजिक न्याय की प्रक्रिया से जोड़ने का शंखनाद है। भारत में पंचायतों का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि भारत में राष्ट्र, राष्ट्रियता एवं राज्य व्यवस्था का।<sup>4</sup>

भारत में वैदिक काल से ही पंचायतों का अस्तित्व रहा है। इसी तर्ज पर राजस्थान में भी प्राचीन काल से ही ग्राम पंचायतें विद्यमान रही हैं। देश के इतिहास की परतों को खंगाला जाए तो ज्ञात होता है कि अनेकानेक आक्रमणों, क्रांतियों से सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की अभिरक्षा में ग्रामीण गणतंत्रों की अहम् भूमिका रही। इतिहासकारों का यह कथन विवेक सम्मत प्रतीत होता है, जब वे कहते हैं – “आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ग्रामीण समुदाय कई अर्थों में स्वतंत्र इकाई के रूप में क्रियाशील रहा है।”

इतना ही नहीं राजनीतिक दृष्टि से भी ग्रामीण समाज अपनी स्वतंत्र व निरपेक्ष पहचान रखता है।<sup>5</sup>

प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के विद्वान ए.एस. अल्तेकर<sup>6</sup> और के.पी. जायसवाल<sup>7</sup> का मत है कि ‘ग्राम’ वैदिककाल से समूची राजव्यवस्था की इकाई एवं धुरी के रूप में कार्य करते थे।

भारत की मूलभूत एकता के लेखक राधाकुमुद मुखर्जी एवं ‘हिन्दू पॉलिटी’ के लेखक बेनीप्रसाद ने भी प्राचीन राजव्यवस्था में ग्रामीण समुदाय के स्वतंत्र इकाई के क्रियाशील होने की बात कही है।

यंग इंडिया – 29.1.1925 के अनुसार – ‘वास्तविक स्वराज’ से तात्पर्य कुछ हाथों में शक्ति होना नहीं वरन् साधारण में इतनी क्षमता का विकसित होना है कि जब कभी सत्ता का दुरुपयोग हो, वह उसे रोक सके। दूसरे अर्थों में, स्वराज को सच्चे अर्थों में लाने के लिए जनसाधारण में इतनी जागृति लानी होगी कि वह सत्ता का नियमन एवं नियंत्रण भली भाँति कर सके।

भारत में पंचायती राज संस्थाओं का इतिहास अति प्राचीन है। वैदिक साहित्य, स्मृति, महाकाव्यों एवं ग्रंथों, मनुस्मृति, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीतिसार जैसी कृतियाँ प्राचीन भारत में विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वैदिक युग में ग्रामों को राजनीतिक इकाई माना जाता था। वही परम्परा अन्य हिन्दू ग्रन्थों में मिलती है जिससे प्रभावित होकर भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य ने ग्रामीण शासन व्यवस्था में दूरदर्शिता का परिचय देते हुए प्रशासन में विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई। ग्राम प्रशासन में सबसे नीचे वाली इकाई ‘ग्रामिक’ कहलाती थी। गुप्तकाल में भी स्थानीय शासन की रूपरेखा लगभग मौर्यकालीन जैसी ही बनी रही है। नगरों का शासन स्वयं नागरिक चलाते थे।<sup>8</sup> भारत का ‘मध्य युगीन इतिहास’ बहुत ही उथल पुथल, अस्थायी और कई अर्थों में अराजकता को अपने में समेटे हुए है। सन् 1206 के कुतुबद्दीन ऐबक के शासन की स्थापना से लेकर सन् 1526 तक इब्राहीम लोदी के शासन की समाप्ति तक के दौर में भारतीय समाज तुर्की एवं अरबी भाषा तथा शरीयत के प्रभाव से युक्त माना जाता है। मुगलकाल (1526–1707) के दौरान भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था आकार लेने लगी थी। अकबर ने प्रशासनिक कार्यों को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। मुगलकाल में पंचायती राज संस्थाओं का पतन प्रारम्भ हो चुका था, लेकिन उन्होंने ग्रामीण पंचायतों के पुराने रीति-रिवाजों में एक सीमा से अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। ब्रिटिशकाल के प्रारम्भिक दौर में पंचायतों को बड़ा धक्का लगा, परन्तु ब्रिटिश काल में उन्नीसवीं सदी के अंत में पंचायतों की तरफ कुछ ध्यान दिया गया। लार्ड रिपन का सन् 1882 का प्रस्ताव, सन् 1909 का रॉयल आयोग, भारत सरकार अधिनियम

1935 आदि विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उदाहरण है। 14 दिसम्बर, 1870 को लार्ड मेयो ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण और स्वायत्तशासी संस्थाओं के गठन के लिए कौंसिल में प्रस्ताव स्थापित करने का प्रहला प्रयास किया।

इसका उद्देश्य प्रशासनिक क्षमता को बढ़ाना तथा वित्तीय साधन जुटाना था।<sup>9</sup> सन् 1919 में ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम 1919 पारित किया। जिसे मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम में पंचायतों को प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित करने का उल्लेख किया गया। पंचायतों को छोटे-मोटे फौजदारी व दीवानी मामले निपटाने के अधिकार तथा स्थानीय कर लगाने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए पर बल दिया गया। सन् 1919 के भारत सरकार अधिनियम में जहाँ पंचायत का विषय राज्य सरकारों को हस्तान्तरित किया, वहाँ भारत सरकार अधिनियम 1935 ने पंचायतों को प्रांतीय विधायी सूची में सम्मिलित कर दिया। परिणामस्वरूप जब सन् 1937 में सभी प्रांतों में सरकारें बनी तो सभी ने पंचायतों को जन प्रतिनिधित्व की संस्थाएँ बताया, लेकिन सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने से यह प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकी। फिर भी 1947 तक स्थानीय संस्थाओं की स्थिति यथापूर्ण बनी रही।<sup>10</sup> 1947 में स्वतंत्रता के उपरान्त भारत के संविधान एवं विधान दोनों द्वारा पंचायती राजव्यवस्था को बल प्रदान किया गया। स्वतंत्र भारत में सामुदायिक विकास योजना पंचायती राज-स्थापना का पहला कदम था। भारतीय संविधान में संघीय व्यवस्था को अपनाये जाने के कारण पंचायतों तक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया गया, परन्तु पंचायती राजव्यवस्थाओं को अनु. 40 में संविधान के भाग 4 के नीति निदेशक सिद्धांतों में स्थान दिया गया। पंचायती राज संस्थाओं को राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों तथा राज्य सूची का विषय बनाए जाने के कारण प्रत्येक राज्य ने अपनी सुविधा व परिस्थितियों के अनुरूप इसे स्वीकार किया।

अतः पंचायती राज संस्थाएँ कुशलतापूर्वक संचालित नहीं हो पायी। राजस्थान में भी पंचायतों की स्थापना की दिशा में पहला सुनियोजित प्रयास सन् 1948 में संयुक्त राजस्थान राज्य पंचायती राज. अध्यादेश लागू कर दिया गया।<sup>11</sup>

मार्च 1948 में मत्स्य संघ के निर्माण से शुरू हुआ, वर्तमान राजस्थान का एक इकाई के रूप में पूर्ण निर्माण 1 नवम्बर 1956 से सम्पन्न हुआ। पूर्व में राजस्थान में पंचायती राज का विकास वर्तमान राजस्थान से सम्बन्धित क्षेत्र से ही जुड़ा हुआ है, जो पूर्व में राजपूताना के नाम से जाना जाता था। मत्स्य संघ 1949 में जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर के साथ मिलकर संयुक्त राजस्थान बना जिसकी राजधानी जयपुर रखी गयी। मुख्यमंत्री हीरा लाल शास्त्री के नेतृत्व में महसूस किया गया कि स्थानीय सरकारों को शक्ति सम्पन्न बनाया जाये तथा विभिन्न रियासतों में अलग-अलग कानूनों के तहत पंचायतों को एकरूपता प्रदान करने पर बल दिया जाये। जिसे सन् 1953 के राजस्थान पंचायत अधिनियम 1954 में प्रभावी किया गया, तदुपरान्त बलवंतराय मेहता समिति द्वारा पंचायती राज को मजबूत करने की सिफारिश की गयी। परिणामस्वरूप 1959 में राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा व्यवस्थित पंचायती राज व्यवस्था को विधिवत एवं व्यवस्थित रूप से संचालित करने का श्रेय राजस्थान को ही प्राप्त हुआ।<sup>12</sup> इस कमेटी में त्रिस्तरीय पंचायती राज स्थापित करने की सिफारिश की गयी। इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने सभी राज्यों को निर्देश दिये कि प्रत्येक राज्य में पंचायती राज संस्थाएँ स्थापित की जाये। राजस्थान देश का प्रथम राज्य बना जिसने विरासत में चली आ रही पंचायती राज संस्थाओं को लोकतांत्रिक आधार प्रदान किया। राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाडिया ने प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू के कर कमलों से 2 अक्टूबर 1959 को नागौर जिले में त्रिस्तरीय पंचायती राज का शुभारम्भ किया। यद्यपि इसकी शुरुआत 1948 में मुख्यमंत्री श्री माणिक्य लाल वर्मा के प्रयासों से बने राजस्थान पंचायती राज अध्यादेश लागू किए जाने से हो गई थी। इसके अंतर्गत पहली बार

जनसंख्या के आधार पर एक ग्राम या ग्राम समूह की शक्तिशाली पंचायत बनायी गयी तथा पंचों एवं सरपंचों की प्रथा शुरू की गयी। परन्तु इसे ढाँचागत सुदृढ़ता 1959 से ही प्राप्त हुयी।<sup>13</sup> पंचायती राज एवं पंचायतों को सशक्त बनाने के लिए समय-समय पर अनेक प्रभावी कदम उठाये गए जिसमें पंचायती राज का महाराष्ट्र प्रतिमान 1964, अशोक मेहता समिति 1977 के प्रावधान है। 80 का दशक पंचायती राज संस्थाओं को नवीनता एवं जीवन प्रदान करने वाला रहा। 1980 में एम.एल. सिंघवी समिति ने पंचायतों को संवैधानिक दर्जा देने की सिफारिश की तथा इस सम्बन्ध में विधेयक प्रस्तुत करवाने का श्रेय प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी को जाता है, जिन्होंने पंचायतों को अधिक प्रभावी एवं उत्तरदायी बनाने पर बल दिया। पंचायती राज विधेयक स्पष्ट करता है कि यह विधेयक गाँवों के लिए है। यह विधेयक 24 अप्रैल 1993 को पारित हुआ जो कि ग्रामीण स्तर के लिए है तथा इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि इसके माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता दे दी गयी जिसे भारतीय संवैधानिक इतिहास में इसे 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम के नाम से जाना गया।

इस संवैधानिक संशोधन अधिनियम द्वारा अपेक्षा की गयी कि देश की सभी राज्य सरकारें अपने पुराने प्रचलित पंचायती राज अधिनियमों को निरस्त कर 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के परिप्रेक्ष्य में नये पंचायती राज अधिनियम तैयार कर 23 अप्रैल 1994 में लागू कर दिया। जिसने विरासत से चली आ रही पंचायती राज व्यवस्था को नयी दृष्टि एवं दिशा के रूप में स्वीकार किया।<sup>14</sup> राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 पारित कर राजस्थान में पंचायतों को व्यवस्थित प्रारूप प्रदान करते हुए सुदृढ़ एवं संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। इस प्रकार राजस्थान में नवीन पंचायती राज व्यवस्था द्वारा लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना हेतु जनव्यापी एवं समग्र क्रांति का सूत्रपात किया गया। ग्रामीण बाहुल्य वाला राज्य होने के कारण सुदृढ़ एवं व्यवस्थित पंचायती राज व्यवस्था में विस्तृत हुए ग्रामीण नेतृत्व से न केवल शासन और प्रशासन में गति आयी वरन् इन सबसे अधिक आधी आबादी का

प्रतिनिधित्व करने वाली महिलाओं हेतु राजनीतिक नेतृत्व के लिए 33 प्रतिशत पदों पर द्वार खुलने से जागृति एवं नवजीवन का संचार हुआ, जिसे 2008 के पंचायत विधेयक द्वारा राजस्थान में 50 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान कर 2010, 2015 के चुनावों में महिला नेतृत्व हेतु क्रांति का आगाज किया गया। इस प्रकार 1994 के अधिनियम द्वारा जहाँ ग्रामसभा के निर्माण ने ग्रामीणों को सक्रिय राजनीतिक नेतृत्व में शामिल किया वहीं पंचायती राज को संवैधानिक आधार प्रदान कर ग्रामीण जनता को सीधे संविधान से जोड़ दिया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 243 से 243 क तक पंचायती राज के सम्बन्ध में प्रावधान संविधान के भाग 9 में 11वीं अनुसूची जोड़कर किए गए। इसके बाद इस दिशा में अनेक सुधार होते रहे।

भारत में पंचायती राज एवं नगरीय स्वशासन सम्बन्धी 73वाँ, 74वाँ संविधान संशोधन इस दिशा में ऐतिहासिक कदम है, क्योंकि इन दोनों संशोधनों के द्वारा न केवल पंचायतीराज एवं नगरीय स्वशासी संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। साथ ही इन संस्थाओं में सभी स्तरों पर सभी वर्गों की महिलाओं को 50 प्रतिशत सीटें आरक्षित कर चुने जाने का प्रावधान है।<sup>15</sup> सन् 1994 के अधिनियम के पूर्व राजस्थान में पंचायती राज की सभी संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण न होकर मनोनयन की व्यवस्था थी। जिन ग्राम पंचायतों अथवा उच्च स्तरीय संस्थाओं में एक भी महिला प्रतिनिधि निर्वाचित होकर नहीं आ पाती थी, उनमें दो महिला सदस्यों का सहवरण सरपंच द्वारा किया जाता था। लेकिन सरपंच या अन्य संस्थानों के मुखिया द्वारा मनोनीत महिला सदस्य मुखर एवं प्रभावशाली न होकर केवल खानापूति का काम करती थी। लेकिन अब संविधान में संशोधन द्वारा पंचायती राज की सभी संस्थाओं में सदस्य से लेकर मुखिया तक के पदों पर तिहाई स्थान सभी वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं। 73वें संविधान संशोधन के अनुरूप राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा-15 में यह प्रावधान किया गया है कि राज्य में पंचायती राज के सभी स्तरों – पंच, सरपंच, प्रधान, पंचायत समिति सदस्य सदस्य, जिला प्रमुख तथा जिला परिषद सदस्यों के लिए अनुसूचित जाति,



अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़े वर्गों सहित सभी वर्गों की महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित की जाएगी। सन् 2008 में श्रीमती वसुंधरा राजे सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं में महिला सशक्तीकरण की दिशा में कदम बढ़ाते हुए उनका आरक्षण एक तिहाई से 50 प्रतिशत किए जाने की घोषणा की। बाद में सन् 2008 में निर्वाचित मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत सरकार ने भी महिलाओं के इस आरक्षण को पचास प्रतिशत, सरकार ने भी महिलाओं के इस आरक्षण को पचास प्रतिशत ही रखा तथा जनवरी-फरवरी 2010 में सम्पन्न पंचायती राज के चौथे आम चुनाव में सम्पन्न पंचायती राज के चौथे आम चुनावों में सभी स्तरों पर आधी से ज्यादा महिलाएँ निर्वाचित होकर आईं। इस प्रकार राज्य में सन् 2010 में जिला प्रमुख से लेकर वार्ड पंच तक लगभग 6 हजार महिलाएँ जनप्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुई हैं, जो एक कीर्तिमान है, इस प्रकार 2015 के चुनावों में भी महिलाओं की संख्या में अभूतपूर्ण वृद्धि हुई है।<sup>16</sup> इस प्रकार 73वाँ संविधान संशोधन महिला नेतृत्व एवं ग्रामीण सुशासन की दिशा में 'मिल का पत्थर' साबित हुआ है। इसके प्रावधानों से राज्य की अनुसूचित जाति एवं जनजाति की महिलाओं को भी पंचायतीराज संस्थाओं में नेतृत्व का अवसर प्राप्त हुआ है। यह एक ऐसा वर्ग है, जो सदियों से नेतृत्वहीन रहा है तथा शोषण एवं दमन का शिकार हुआ। इन वर्गों के लिए पंचायतीराज संस्थाओं का आरक्षण मात्र राजनीतिक नेतृत्व को सुनिश्चित करने के लिए नहीं अपितु ग्रामीण सुशासन सम्बन्धी उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के लिए भी है। इन वर्गों की महिलाएँ मतदाता के रूप में, राजनीतिक दलों के सदस्य के रूप में, महिला मण्डलों एवं स्वयं सहायता समूहों के सदस्यों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ अपनी भागीदारी निभा सकती है। पंचायतीराज संस्थाओं एवं नगरीय स्वायत्त संस्थाओं में आरक्षण के फलस्वरूप महिलाओं को राजनीतिक नेतृत्व का अवसर मिला है। अकेले पंचायती राज संस्थाओं में देशभर में तीनों स्तरों पर 10 लाख से भी अधिक महिलाएँ प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होकर आने लगी हैं। महिलाओं के लिए यह पहला अवसर है कि जब वे इतनी बड़ी संख्या में पंचायतों में शासन कार्य में भागीदार बनी हैं तथा अपने आसपास की समस्याओं का निराकरण स्वयं करने लगी हैं।

महिला आरक्षण एवं पंचायती राज व्यवस्थाओं में बढ़ती महिला भागीदारिता का सुखद पक्ष है परन्तु यह उभरता हुआ ग्रामीण नेतृत्व ज्यादातर अशिक्षित एवं अनुभवहीन है। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर महिला सदस्यों की वास्तविक जिम्मेदारी एवं भूमिका उनके परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा निभाई जा रही है।<sup>17</sup> तमाम आलोचनाओं के बावजूद इसमें कोई शक नहीं है कि देशभर में महिलाओं का सशक्तीकरण हुआ है। भारत गाँवों का देश है। गाँवों की उन्नति पर ही सुशासन निर्भर करती है। गाँधीजी ने ठीक ही कहा था कि “यदि गाँव नष्ट होते हैं, तो भारत नष्ट हो जाएगा।” हमारा जनतंत्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक से अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाए और अपने ऊपर राज करने की जिम्मेदारी स्वयं उठाएँ।

पं. जवाहर लाल नेहरू का कहना था “गाँवों के लोगों को अधिकार सौंपना चाहिए। उनको काम करने दो चाहे हजारों गलतियाँ करे इससे घबराने की जरूरत नहीं। पंचायतों को अधिकार दो।”<sup>18</sup>

पूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी ने एक बार कहा था कि “हमारी योजनाओं का केवल 15 प्रतिशत धन ही जरूरतमंद आदमी तक पहुँच पाता है।” देश के किसी गाँव में दिल्ली से भेजा गया एक रुपया वहाँ पहुँचते-पहुँचते 15 पैसा हो जाता है। बाकी की राशि या तो भ्रष्टाचार में चली जाती है अथवा उस तंत्र या मशीनरी पर व्यय हो जाती है, जिसके माध्यम से योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं जबकि पंचायतों के अस्तित्व में आ जाने के बाद सरकार के पास ऐसी बड़ी मशीनरी खड़ी हो जाती है, जो बिना खर्च के कार्य करने के लिए तत्पर रहती है तथा जिसमें जनता का विश्वास निहित होता है। पंचायत के प्रतिनिधि अपने कार्यों व व्यवसायों से समय बचाकर पंचायतों की योजनाओं की देखरेख करते हैं। साथ ही, विकास पर खर्च के लिए दिए जाने वाले पैसे का पूरा-पूरा सही उपयोग होता है। **सरदार वल्लभ भाई पटेल** ने कहा था कि “पंचायती राज संस्थाएँ प्रजातंत्र की नर्सरी हैं। हमारे देश या प्रजातंत्र की विफलता के लिए सर्वप्रथम दोष नेतृत्व को दिया जाता

है। पंचायतों में कार्य करते हुए पंचायत प्रतिनिधियों को स्वतः ही उत्तम प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है। जिसका उपयोग वे भविष्य में नेतृत्व के उच्च पदों पर कर सकते हैं।<sup>19</sup>

लोकतंत्र एक श्रेष्ठ प्रणाली है जिसमें पंचायतों को अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए। ताकि सुशासन के मूलभूत उद्देश्य की प्राप्ति की जा सके। महात्मा गाँधी 'ग्राम पंचायतों' को शक्ति सम्पन्न और राजनीतिक दृष्टि से 'गणराज्य' बनाना चाहते थे। उनका मत था कि पंचायतों पर किसी भी तरह का बाहरी व आंतरिक दबाव नहीं हो। पंचायतें अपने फैसले स्वयं करे और वित्त के मामले में दूसरी एजेन्सी पर आश्रित नहीं रहे। उनका दृष्टिकोण था कि नेतृत्व ऊपर से होने के बजाए नीचे से होना चाहिए, जिनसे स्थानीय स्तर पर जनतांत्रिक संस्थाएँ भली प्रकार संचालित हो सकें। गाँधीजी ने कहा था कि ग्राम पंचायतों को जितना सशक्त बनाया जाए उतना ही अच्छा है। गाँधीजी कहा करते थे कि भारत की स्वतंत्रता तल से प्रारम्भ होनी चाहिए। उनका मत था कि राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का इस प्रकार विकेन्द्रीकरण किया जाए कि भारतीय ग्राम प्राचीन एवं वैदिककाल की तरह एक स्वावलम्बी इकाई बन सके।<sup>20</sup>

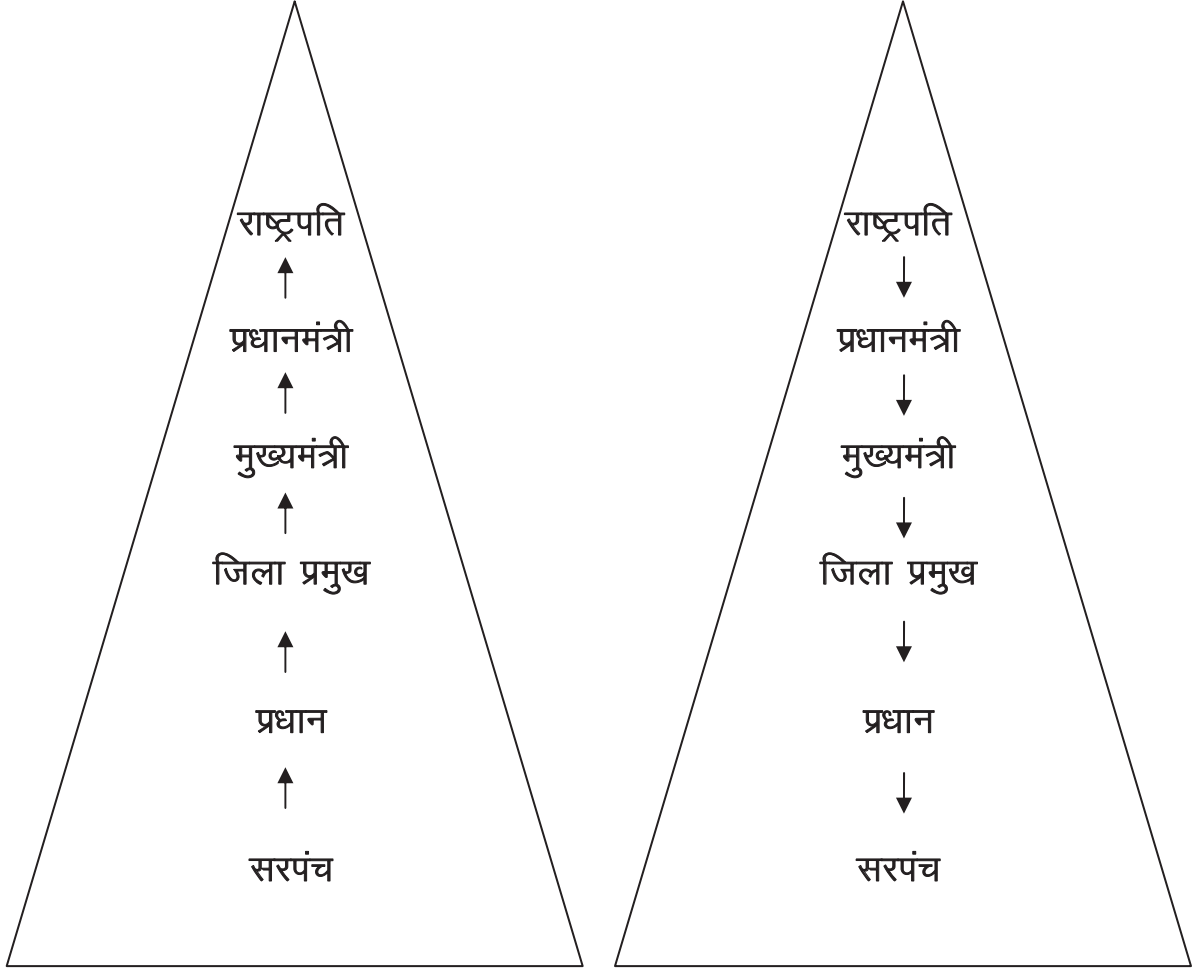
भारतीय संस्कृति की शताब्दियों पुरानी इस कहावत "वसुधैव कुटुम्बकम्" का समय आ गया है। गाँधी वैश्वीकरण के पक्ष में थे और उनका वैश्वीकरण ग्राम पंचायत से शुरू होकर एक उच्चतम पद (राष्ट्रपति) तक जाता था। गाँधी वैश्वीकरण का समर्थन करते हुए कहते थे कि "सम्पूर्ण पृथ्वी हमारे घर और इसमें रहने वाले सभी प्राणी हमारे अपने हैं। अतः हमें इनकी सहायता करनी चाहिए।

गाँधीजी की पंचायती राज व्यवस्था पूर्णता विकेन्द्रीकरण पर थी। गाँधी ऊपर से नीचे की ओर नहीं बल्कि नीचे से ऊपर विकास प्रक्रिया के समर्थक थे।

## पंचायती राज तक सुशासन की क्रिया

केन्द्रीकरण

विकेन्द्रीकरण



उपरोक्त पैरामिड के अनुसार विकेन्द्रीकरण में राज्य की ताकत ग्राम पंचायत में होगी और राष्ट्रपति मात्र एक शासन चलाने वाला रहेगा क्योंकि जैसा राज्य के हित में होगा वे जनता तय करेगी और जनता का हित किसमें है? वो ग्राम पंचायत करेगी और यह तभी होगा जब पंचायत के पास ताकत होगी और पंचायत के पास ताकत तब होगी जब शासन व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था होगी।<sup>21</sup>

गाँधीजी ने एक आदर्श लोकतंत्र को ग्रामीण समुदायों के संघों पर अवस्थित माना है। इसके अनुसार अहिंसक समाज स्वैच्छिक सहयोग पर कार्य करने वाले मानव समूहों से निर्मित होगा जो गाँवों में रहते हुए शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का पालन करेंगे। आध्यात्मिक सत्ता का निरन्तर ध्यान रखते हुए सादगी एवं त्याग का जीवन व्यतीत करेगा और समाज सेवा में रत रहेगा। यह पूर्णतः विकेन्द्रीकृत होगा, जिसमें जीवन के सभी क्षेत्रों में पूर्ण समानता होगी। भारत में रामराज्य व सुशासन के लिए गाँधी जी ने सत्याग्रह, ग्रामीण उद्योगों के विकास, प्राथमिक शिक्षा और हस्तउद्योगों के विकास, छूआछूत निवारण, साम्प्रदायिक एवं श्रमिकों के अहिंसक संगठनों को आवश्यक माना है। इसके अलावा एकसदनीय विधायिका, उम्मीदवार की नियोग्यताओं की व्यवस्था, निर्वाचन पद्धति, वयस्कमताधिकार, बहुमत और अल्पमत, स्वतंत्रता, समानता, अधिकार और कर्तव्य, पुलिस सेवा इत्यादि का भी जिक्र किया गया है। जन्मजात लोकतंत्रवादी अनुशासन का पालन करने वाला एवं पूर्णतः निःस्वार्थ होने चाहिए। गाँधी की ग्राम स्वराज्य की यह अवधारणा वास्तव में आदर्श ग्राम पंचायत की परिकल्पना प्रस्तुत करती है।<sup>22</sup> पंचायती राज द्वारा अपने गाँव में अपना राज लाने की राजस्थान की पारम्परिक विरासत को बनाये रखने के लिए राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 एक नवीन दृष्टि हेतु महत्त्वपूर्ण कदम है। यह न केवल प्राचीन पंचायती राज को पुनः उद्भूत वरन् लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के आधार पर पंचायती राज को संवैधानिक बल प्रदान करता है। जिसके द्वारा हम राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के ग्राम स्वराज के स्वप्न को साकार रूप देने की ओर बढ़ सकते हैं। आवश्यकता है इसे राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से मजबूत करने की तथा जाति, वर्ग, भाई-भतीजावाद से ऊपर उठाकर सामाजिक आधार देने की है। 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम एक्ट 1992 स्थानीय सुशासन की दृष्टि से यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संशोधन अधिनियम के द्वारा पंचायतों के गठन को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई है। इस संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान में एक नवीन भाग 9 जोड़ा गया जो पंचायत के विषय में संविधान के इस भाग में 243, 243 क से 243 ण तक अनुच्छेद में है। इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश के साथ

ही शासन प्रशासन की समस्त संस्थाओं में सुशासन (गुड गवर्नेंस) की आवश्यकता का अनुभव सभी स्तरों पर किया जा रहा है। भारतवर्ष में पंचायती राजसंस्थाओं की उपस्थिति यद्यपि वैदिक काल से दृष्टव्य है तदपि स्वतंत्र भारत में संविधान प्रवर्तन के 5वें दशक में वर्ष 1992-93 में संवैधानिक स्तर पर मिलने के पश्चात् इनकी कार्य प्रणाली में सुशासन की मांग भी बलवती होती जा रही है।<sup>23</sup>

### सुशासन की अवधारणा : विवेचन एवं विश्लेषण

सुशासन की यह अवधारणा सम्पूर्ण शासन प्रशासन तंत्र में पारदर्शिता जवाबदेयता, संवेदनशील, उत्तरदेयता और नागरिकों की अधिकतम सहभागिता की अपेक्षा करती है। भारत जैसे देश में इस अवधारणा के माध्यम से नागरिकों को शासन की विभिन्न संस्थाओं द्वारा सामाजिक अवसरों की न्यायसंगत उपलब्धता के साथ शासन के निकायों की गरीबी निवारण के संदर्भ में क्षमता के अभिवर्धन से जोड़कर भी देखा जा सकता है।

पंचायती राज संस्थाएँ मूल स्तर पर नागरिकों को अनिवार्य सेवाओं की उपलब्धता के लिए उत्तरदायी मानी जाती है। इस संदर्भ में पंचायती राज संस्थाओं की अपने नागरिकों को दी जाने वाली सेवाओं के वितरण में क्षमता संवर्धन को भी सुशासन का ही एक अनिवार्य हिस्सा माना जा सकता है।<sup>24</sup> परम्परागत रूप से 'शासन' मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही अस्तित्व में बना हुआ है। 'शासन' भी उतना ही पुराना है जितनी की मानव सभ्यता। चाहे मानव ने जंगलों, प्राकृतिक संसाधनों, पशुओं, परिस्थितियों या फिर दूसरे मानव समूहों अथवा अन्य संसाधनों पर अपना अधिकार स्थापित किया हो, किसी न किसी रूप में 'शासन' को दो भिन्न रूपों में बंटा पाते हैं :- **कुशासन तथा शासन**। साधारणतया शासन का अर्थ है, निर्णय निर्माण की प्रक्रिया जिसके द्वारा निर्णय लागू किए जाते हैं। यदि यह गलत व बुरा प्रभाव पैदा करता है, तो कुशासन और यदि अच्छा प्रभाव या परिणाम देता है तो सुशासन कहलाता है। आज हम शासन को विभिन्न रूपों में प्रयोग करते हैं जैसे

अंतरराष्ट्रीय शासन, राष्ट्रीय शासन, राज्य अथवा स्थानीय, कॉरपोरेट या निगमीकृत शासन इत्यादि।<sup>25</sup>

### सुशासन का अर्थ

शासन और प्रशासन की शब्दावली में सुशासन शब्द अपेक्षाकृत हालिया शब्द है या तो शासन का अभीष्ट हमेशा सुशासन ही होता है जैसा कि तमाम भारतीय चिंतक प्राचीनकाल से ही प्रतिपादित करते रहे हैं। परन्तु आधुनिक लोक प्रशासन की शब्दावली में यह शब्द 1990 के दशक से प्रविष्ट हुआ है। सुशासन की अवधारणा उन प्रश्नों से अनिवार्यतः आबद्ध है जैसे शासन का लक्ष्य क्या है? शासन किसके लिए है, और शासन का आदर्श रूप क्या है?

भारत के राजनीतिक प्रशासनिक विमर्श में पिछले कुछ समय से सुशासन अवधारणा ने सबका ध्यान आकर्षित किया है। यह सरकार के व्यापक रूप में प्रयुक्त अवधारणा है जिसके व्यावहारिक क्रियान्वयन हेतु न केवल सरकार के तीनों अंग व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका वरन् नागरिक समाज संगठनों एवं स्वयं नागरिकों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कहा जा सकता है कि सुशासन एक नागरिक केन्द्रित अवधारणा है, जो अपना सम्पूर्ण ध्यान जनकल्याण पर केन्द्रित कर उसे वास्तविक रूप में प्राप्त करने हेतु जन भागीदारी के साथ शासन कर्मियों की जवाबदेहिता सुनिश्चित करती है। समसामयिक संदर्भ में सुशासन निश्चित रूप से व्यापक अवधारणा है। यह शासन के एक नवीन संरचनात्मक कृत्यात्मक ढाँचे को प्रस्तुत करती है, जो शासन को जनता के अधिक निकट ले जाकर उसकी सहभागिता में वृद्धि करते हुए पारदर्शिता स्थापित करने को उद्यत है। भारत में इस संकल्पना को विकेन्द्रीकृत शासन के सबसे निम्नस्तर पर पंचायत राज संस्थाओं के माध्यम से व्यावहारिक रूप में स्थापित किया जा सकता है।<sup>26</sup>

एक अवधारणा के रूप में सुशासन समाज और राजनीति की सभी संरचनाओं जैसे सरकार, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, मीडिया, निजी क्षेत्र, सहकारी समितियों एवं गैर सरकारी संगठनों इत्यादि को समाहित करता है। जन उत्तरदायित्व और

पारदर्शिता सभी क्षेत्रों के लिए प्रासंगिक और अपरिहार्य है। यह तभी संभव हो सकता है जब समाज और राजनीतिक व्यवस्था की समस्त संरचनाएँ सार्वजनिक शुभ के उद्देश्य से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन उचित रूप में करती है। इस दृष्टि से यह भारतीय दर्शन की धारणा 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' को दृष्टिगत रखती है। जिसका उद्देश्य समस्त जनमानस का कल्याण और सुख की संकल्पना को प्रस्थापित करना है।<sup>27</sup> विश्व बैंक के एक दस्तावेज 'गवर्नेंस एण्ड डवलपमेंट (1990)<sup>28</sup> में सुशासन शब्द का प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में किया गया है जिसमें शासन शक्ति का प्रयोग राष्ट्र के विकास के लिए तथा राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक संसाधनों का प्रबन्ध करने के लिए किया जाता है।

विकासशील देशों में एक साहूकार के रूप में प्राप्त अनुभवों के आधार पर विश्व बैंक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सुशासन एक ऐसे पर्यावरण के निर्माण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो सशक्त और समान विकास को बढ़ाता है। व सबल आर्थिक नीतियों का पूरक है। सुशासन की संकल्पना को विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के संदर्भ में बनाई गई है तथा लोकप्रशासन के शब्दकोष में यह सन् 1990 में प्रविष्ट हुई है। इस प्रक्रिया का जन्म पश्चिमी देशों के द्वारा शीतयुद्ध युद्धकाल के बाद विकासशील देशों को इनके द्वारा दी जाने वाली विदेशी सहायता के रूप में हुआ है।

### शासन क्या है?

बोलचाल की भाषा में 'सरकार और शासन' शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता है। पर राजनीति विज्ञान की शब्दावली में इन दोनों में बड़ा अन्तर है — आर. एन. प्रसाद<sup>29</sup> ने अपनी पुस्तक 'गवर्नेंस इन इण्डिया (2002) में लिखा है कि शासन शब्द का अर्थ सरकार से कहीं अधिक व्यापक है। सरकार एक मशीनरी तथा संख्यात्मक व्यवस्था है। जो समुदाय के बाध्य हितों को पूरा करने के लिए संप्रभु शक्ति का प्रयोग करती है। जबकि समुदाय के हित के लिए प्राधिकृत निर्णय लेने की प्रक्रिया और निर्णय के क्रियान्वयन को शासन कहते हैं। इस प्रकार



सरकार एक संख्या है, जबकि शासन एक प्रक्रिया है। इसी के लिए शासन के केन्द्र निर्णय के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। शासन संचालन के औपचारिक और अनौपचारिक कर्ता होते हैं। सार्वजनिक अधिकारी एवं कर्मचारी औपचारिक कर्ता के रूप में तथा गैर सरकारी संगठन (N.G.O.) अनुसंधान संस्थान, वित्तीय संस्थान, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, किसान संघ, सहकारी संघ आदि सिविल सोसाइटी के ये अनौपचारिक कर्ता के रूप में निर्णय निर्माण और उनके क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इनके द्वारा सुशासन, प्रदान की जाने वाली सेवाओं की दर, विकास के स्तर और जन-संतुष्टि की दर को प्रतिबिम्बित करता है, इन संकेतों की उच्चतम दर ही प्रशासन की सफलता का द्योतक है। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी गवर्नेंस शब्द मूलतः यूनानी भाषा के Kubernaos 'कुबरेना-शब्द से उद्भूत है। जिसका अर्थ होता है, "परिचालन करना" अतः शासन का परिचालन जो कि शासन शासित करने की कला है। इसका सम्बन्ध परिचालन के लिए किये गए निर्णयों से है जो अपेक्षाओं को परिभाषित करते हैं, शक्ति प्रदान करते हैं और निष्पादन का सत्यापन करते हैं।

सुशासन प्रशासन के उच्च पदीय गुणों को स्थापित करने और उसके दुर्गुणों व कुरीतियों को दूर करने का कार्य है। संक्षेप में सुशासन दक्ष, साखयुक्त और वैधानिक प्रशासनिक प्रणाली की स्थापना है जो कि नागरिक मूल्यों को ध्यान में रखने वाली तथा लोक भागीदारी से परिपूर्ण है।<sup>30</sup>

### सुशासन की परिभाषाएँ

सुशासन की परिभाषा भी विद्वानों द्वारा अलग-अलग प्रकार से की गई है।

ओ. पी. मिनोचा<sup>31</sup> के अनुसार, सुशासन का सम्बन्ध शासन के नवीन मूल्यों को आत्मसात करने से है, जिससे और अधिक दक्षता, वैधानिकता और व्यवस्था की साख स्थापित की जा सके। साधारण शब्दों में, सुशासन को नागरिकों का मित्र, नागरिकों की देखभाल करने वाला तथा संवेदनशील प्रशासन कहा जा सकता है।

जेफरिश<sup>32</sup> के अनुसार अच्छा अभिशासन उद्देश्यपरक तथा विकासोन्मुखी प्रशासन से सम्बन्धित होता है जो व्यक्ति की जीवन गुणवत्ता को संवर्द्धित करने के प्रति प्रतिबद्ध होता है और यहाँ व्यवहार की शैली लोकतांत्रिक हो आवश्यक नहीं।

गोरान हेडेन<sup>33</sup> के अनुसार किसी भी देश में सुशासन (अच्छे अभिशासन) का सम्बन्ध सतत् विकास से होता है। यह नैतिक संकल्प जो अभिशासन प्रक्रिया को आधार प्रदान करता है। यह न केवल उच्चतर नैतिकता प्रदर्शित करता है बल्कि अधिक विश्वास और आस्था जवाबदेहिता सरकार और लोकसमाज के सम्बन्धों की पारस्परिकता और प्राधिकार प्रयोग की प्रकृति को भी परिलक्षित करता है।

सामान्य तौर यदि सुशासन (अच्छे अभिशासन) में सम्पूर्णता का निष्पक्ष एवं सशक्त अवधारणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करें तो यह कहा जा सकता है कि एक अच्छा अभिशासन (सुशासन) छः तत्वों से सम्बन्धित है –

(1) विचार अभिव्यक्ति एवं जवाबदेहिता (2) राजनीतिक स्थिरता (3) सरकारी प्रभावशीलता (4) विनियमन की गुणवत्ता (5) विधि का शासन (6) भ्रष्टाचार नियंत्रण।<sup>34</sup>

कैनेथ स्टोव<sup>35</sup> ने 1992 में सुशासन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए छः लक्षण बताए :-

1. राजनीतिक स्वतंत्रता
2. सांविधानिक एवं न्यायिक संरक्षण
3. स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा विधि के शासन की स्थापना
4. शिक्षा द्वारा समाज का विकास
5. सामाजिक और आर्थिक विकास की सतत्ता या निरन्तरता
6. कार्यपालिका की जवाबदेहिता (निर्वाचित विधायिका के प्रति)

बर्थवाल<sup>36</sup> के अनुसार – “सुशासन से तात्पर्य उन निर्णयों, नीतियों और कार्यों से है जिनका उद्देश्य सभी का कल्याण हो।

आशा कौशिक<sup>37</sup> इसे अधिक व्यापक रूप में देखती है, उनका मानना है कि इसे प्रभावी शासन, कुशल शासन, लोकतांत्रिक सहभागिता, लोकप्रबंधन, सुधार, नागरिकों का सशक्तीकरण, जवाबदेहिता, पारदर्शिता, विकेन्द्रीकरण, विधि का शासन और मानवाधिकार इत्यादि विभिन्न पदों के रूप में संबोधित किया जा सकता है।

इन परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर अवस्थी एवं माहेश्वरी का मत है कि सुशासन की परिभाषा कभी लक्ष्य के रूप में कभी साधन के रूप में और कभी लोकतांत्रिक निर्धारित उद्देश्य के रूप में की जाती है। समय के साथ-साथ सुशासन की परिभाषा में भी विस्तार आया है। आज के भूमण्डलीकरण के युग में उसकी वैचारिक कठिनाईयाँ तब प्रारम्भ होती है जब विश्व के समृद्धिशाली देश और इकाइयाँ द्वारा विकासशील देशों के विकास के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता के लिए पहले से शर्तें निर्धारित की जाती है।

### सुशासन (दर्शन पाश्चात्य संदर्भ)

लेकिन वास्तव में सुशासन कोई नया नहीं है, यह हमारी सभ्यता जितना पुराना है। गुड गवर्नेस का अंग्रेजी भाषा में सर्वप्रथम सन् 1628 में इस्तेमाल हुआ तथा सन् 1901 में संक्षिप्त रूप से यह संतुलित तौर पर एक लोकोक्ति या अवलोकन कथन के रूप में परिलक्षित हुआ – अर्थात् बुद्धिमान युवराज्ञी को केवल उसकी सरकार की वजह से नहीं वरन् शासन की वहज से प्रशंसित होना चाहिए।

ग्रीक व पश्चिम के विचारकों में भी सुशासन की संकल्पना प्रमुख रूप से विद्यमान है। प्लेटो ने अपनी कृति ‘रिपब्लिक’ में एक आदर्श प्रशिक्षित प्रशासकीय व राजनीतिक वर्ग की वकालत की है, जो निजी वित्तीय खुशी को विचार किए बिना लोक सेवा के प्रति समर्पित रहता है। प्लेटो, सरकार को एक उच्चस्थ मूल्यों व प्रायोगिक कार्यों वाला मानते है जिसमें मूल्यों व ज्ञान से युक्त व्यक्ति को अपने

आपको समर्पित करना चाहिए। प्लेटो व सुकरात की शास्त्रीय विचारधारा स्वशासन के भी ऊपर सुशासन को महत्त्व प्रदान करती है। शासन का लक्ष्य अच्छा जीवन है न कि लोगों पर अच्छी सरकार। आधुनिक काल में लोक के स्वतंत्रता से सम्बन्धित विचारों में मुख्यतः स्वशासन, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानव अधिकार की बात आती है, जिसके पार्श्व में भी सुशासन की समस्या का प्राकृतिक हल प्रतिपादित करने की इच्छा है। रूसो ने सामान्य इच्छा सिद्धान्त का प्रतिपादन करके आधुनिक काल से सर्वप्रथम स्वशासन व सुशासन का मेल स्थापित किया है। इस प्रकार रूसो ने भी सामान्य हित के रूप में सुशासन को एक आधार प्रदान किया है।<sup>38</sup>

### सुशासन का दर्शन, उद्भव व अवधारणात्मक विकास (भारतीय संदर्भ)

उत्पत्ति के समय से ही 'राज्य और सुशासन' शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची माने जाते रहे हैं। राज्य की उत्पत्ति मानव कल्याण के लिए हुई तथा मानव समाज ने राज्य की बल सत्ता को सामान्य हित, मानव कल्याण, न्याय और सुशासन की व्यवस्था को आत्मसात किया है। अच्छा शासन की अवधारणा ही सुशासन है। जिसका रूपान्तरण (अंग्रेजी) गुड गवर्नेंस है।

सुशासन अपेक्षाकृत नवीन संकल्पना है, तथापि राजनीतिक चिंतन के इतिहास में यह अवधारणा प्राचीन समय से ही प्रयुक्त होती रही है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों यथा – प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स, लॉक, रूसो, जे.एस. मिल, कार्लमार्क्स इत्यादि के विचारों में सुशासन के तत्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। पाश्चात्य चिन्तन में ही नहीं भारतीय चिन्तन में भी सुशासन की अवधारणा के बीज मिलते हैं। मनु, शुक्र, कौटिल्य, महात्मा गाँधी तथा अम्बेडकर ने अपने विचार चिन्तन के माध्यम से अच्छे शासन को व्याख्यित करने का प्रयास किया है।<sup>39</sup> हिन्दू धर्म, संस्कृति और उसके राजनीतिक दर्शन में सुशासन एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है, जो सामान्य हित को परिवर्धित व संरक्षित करता है। गीता<sup>40</sup> एक आचार संहिता का निर्माण करती है और अच्छे पथ की ओर निर्देश देती है। यजुर्वेद<sup>41</sup> के बीसवें अध्याय में सरकार या राज्य के तीन अंग – विद्वानों की सभा (विद्य सभा), धार्मिक लोगों की सभा (धर्म सभा)

और प्रशासकों की सभा (राज्य सभा) बताए गए हैं। ये सभी वस्तुतः सुशासन की व्यवस्था के अंग हैं। हिन्दू धर्म व संस्कृति की नींव धर्म है जो कि शासन या सुशासन की नींव भी है।

वस्तुतः वैदांतिक चिन्तन के साथ प्रशासन में सच्चरित्रता, नैतिकता एवं पारदर्शिता जैसे तत्वों को समविष्ट करने की कोशिश भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में प्राचीन काल से ही देखी जाती रही है। भारतीय वेदों में कहा गया है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्॥

अर्थात् सभी लोग सुखी हों, सभी रोग रहित हों तथा सभी कल्याण को देखे और कोई भी दुःख का भागी न बने। उपर्युक्त श्लोक किसी भेदभाव, मानव, पशु, प्रकृति, लिंग, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, धर्म आदि के बिना सभी के सुख, रोगरहित और कल्याण होने की बात करता है। वास्तव में सुशासन का सार भी यही है। भारतीय संस्कृति की एक और प्रचलित दार्शनिक अवधारणा “वसुधैव कुटुम्बकम्” आज भी प्रासंगिक है। अर्थात् जब तक हम सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार नहीं समझेंगे तब तक सभी का कल्याण सम्भव नहीं है। विचारधारा, कार्य, कर्तव्य तथा व्यक्तिगत व्यवहार के सभी पहलुओं के साथ “अच्छा तत्व” को जोड़ने की भारतीय कोशिश भारतीय इतिहास का हिस्सा रही है। राम राज्य के रूप में सुशासन की अवधारणा भारत में प्राचीनकाल से विकसित होती रही है। मनुस्मृति<sup>42</sup> में भी राजा के आचरण व उसके अधिकारियों, न्यायकर्त्ताओं के आचरण के सम्बन्ध में नियम वर्णित हैं, जिसके अनुसार राजा स्वयं निजी कार्यो तथा राज कार्यो को सम्पादित करते हुए यह आदेश देता है कि सभी अधिकारी प्रजा की भलाई के लिए ही कार्य करे।

कौटिल्य<sup>43</sup> ने अपनी विशिष्ट रचना ‘अर्थशास्त्र’ में राजा से सर्वाधिक अच्छे आचरण की अपेक्षा की है। उसके अनुसार प्रजा की भलाई में ही राजा का हित है, जो कुछ भी राजा को अच्छा लगता है या प्रसन्न करता है, उसे ही अच्छा नहीं विचारना चाहिए, वरन् जो भी प्रजा को अच्छा लगे उसे अच्छा मानना चाहिए अर्थात्

कौटिल्य की राज्य कला पर लिखी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में अच्छे शासन के तमाम लक्षण बताए गए हैं जैसे शासन हमेशा जनहित में होना चाहिए, शासन कर्त्ताओं का जीवन अनुशासित होना चाहिए, भ्रष्ट कर्मचारियों के विरुद्ध दण्डात्मक उपाय किए जाने चाहिए। उनके अनुसार "प्रजा के सुख में, दुःख में और प्रजा के हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिए। इसी क्रम में आधुनिक भारतीय विचारको स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी इत्यादि के विचार भी प्रासंगिक हैं। सभी ने कहीं न कहीं अंतिम रूप से सुशासन को लक्ष्य बनाकर ही अपने विचार प्रकट किए हैं। महात्मा गाँधी ने 'स्वराज'<sup>44</sup> के माध्यम से सुराज स्थापित करने पर बल दिया और तदनुरूप विशाल स्वतंत्रता आन्दोलन खड़ा किया उनकी सुराज की अवधारणा भारतीय संस्कृति की 'रामराज्य' की अवधारणा से प्रेरित थी। वस्तुतः उनका सुराज का चिन्तन आज भी प्रासंगिक है, जब हम वंचितों व सुविधा सम्पन्नों दोनों को ही शासन में उचित पश्रय देना चाहते हैं। वास्तव में सुशासन का ध्येय भी यही है कि मानव सभ्यता के जीनो से नीचे के पायदान पर बैठे कमजोर से कमजोर व वंचित वर्गों को भी लाभ पहुँचा कर गरिमामय जीवन जीने की स्थिति लाई जाए, जहाँ छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे, अमीर-गरीब सभी अपनी विविधताओं, विशेषताओं के साथ उच्च स्तरीय मानव जीवन जी सके। भारतीय इतिहास के विकास के सभी चरणों में लोक प्रशासन हेतु प्रशासन की उत्तमता को विकसित करने का भारतीय प्रयास हमेशा प्राथमिकता प्राप्त करता रहा है।

19वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में जहाँ सामाजिक सुधार और आर्थिक सुधार से सम्बन्धित मुद्दों पर प्रशासन का ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश की गई वहीं दूसरी तरफ इस सदी के अंतिम दशकों में तथा 20वीं सदी में राजनीतिक सुधार से सम्बन्धित मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सांविधानिक प्रयत्नों के माध्यम से सर्व गुणवत्ता को समर्पित करने की कोशिश की गई। स्वतंत्रता के बाद सांविधानिक इतिहास के 65 वर्षों में सुशासन (अच्छा शासन)

की अवधारणा को व्यवहारिकता प्रदान करने का प्रयत्न तीनों ही क्षेत्रों अर्थात् सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में बना हुआ है। हाल के वर्षों में पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों में सुशासन नीतिगत बहस का नवीन मुद्दा बना है इसकी गूँज भारत जैसे लोकतांत्रिक देश की प्रशासनिक शब्दावली का हिस्सा बन बहस के केन्द्र में आ गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना न सिर्फ भारतीय दर्शन (शासन और प्रशासनिक सम्बन्ध में) की व्याख्या करती है। बल्कि उसका विहंगम सजीव दृश्य भी प्रस्तुत करती है। संप्रभु समाजवादी धर्म निरपेक्ष तथा लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में स्थापित यह देश सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबद्ध है जिसमें स्वतंत्रता, समानता, भातृत्व और व्यक्ति की गरिमा की सुखद अनुभूति हो सके। राष्ट्रीय उद्देश्य संकल्प को संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित करने के साथ-साथ संविधान के भाग-3 और भाग-4 में अच्छे अभिशासन के तत्वों को शामिल करते हुए समानता, स्वतंत्रता और शोषण के विरुद्ध अधिकार को स्थान दिया गया है। नीति निर्देशक तत्वों में आर्थिक समाजवाद और सामाजिक न्याय के तत्वों को स्थान दिया गया है। इस तरह भारतीय संविधान के माध्यम से सुशासन की अवधारणा को स्वाभाविक वैधानिकता प्रदान की गई है। 26 जनवरी 1950 के बाद संविधान के लागू होने के साथ ही अब तक 65 वर्षों में भारत ने संसदीय लोकतंत्रात्मक प्रणाली के साथ संघीय सरकार के माध्यम से सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों से स्वनिर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने का सकारात्मक प्रयत्न करने की कोशिश की है।<sup>45</sup>

ओ.पी. द्विवेदी<sup>46</sup> ने 4 प्रकार के प्रारूपों का उल्लेख किया है जिनके माध्यम से भारत में सुशासन को स्थापित करने में सफलता की प्राप्ति हो सकती है। ये हैं — लोकसेवा प्रारूप, न्यायिक प्रारूप, नवलोक प्रबंध प्रारूप और नीति शास्त्रीय प्रारूप। अतः कहा जा सकता है कि भारत में जहाँ पर सांस्कृतिक बहुलवादिता है और जहाँ आध्यात्मिक से प्रेरित संस्कृति है, वहाँ इन सभी प्रारूपों का मिश्रण एक

अच्छे अभिशासन की स्थापना में सहायक हो सकता है। न्यायपालिका, प्रेस, लोक समाज इत्यादि की अति महत्त्वपूर्ण भूमिका सुशासन से सम्बन्धित बुराइयों को दूर करने में होगी। लोकतांत्रिक अभिशासन के आधारभूत मूल्यों को सुनिश्चित करने और आध्यात्मिक तथा नैतिक व्यवहार से व्यवस्था को मर्यादित करने का कार्य इस प्रारूप के माध्यम से संभव हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र को स्वयं से ऊपर रख राजनीतिक दल आध्यात्मिकता और नैतिकता का सहारा लेकर स्वयं को असंस्थाओं, पद्धतियों एवं प्रक्रियों से सम्बद्ध करे जो सांविधानिक भावनाओं से जुड़ी हुई है। इससे विधि का शासन, प्रशासनिक स्वच्छता, समता, भागीदारी, पारदर्शिता, अनुक्रियाशीलता, मतैक्य विकास, दक्षता, प्रभावशीलता और जवाबदेहिता जैसे तत्व शासन और अभिशासन से सम्बन्धित होंगे जिससे रामराज्य की स्थापना सम्भव हो सकेगी।

### सुशासन के विकास के कारण

सुशासन एक लम्बी प्रक्रिया है जो प्राचीनकाल से वर्तमान समय तक देखी जा सकती है परन्तु सबसे अधिक प्रभावी वर्तमान लोकतांत्रिक शासन है जिसके विकास के निम्न कारण हैं :-

1. बहुत लम्बे समय से शासन और प्रशासन में समता बनी रही, इनकी वजह से दक्षता और प्रभावशीलता बाधित हुई। धीरे-धीरे यह महसूस किया गया कि संगठित और एकीकृत प्रयासों के द्वारा शासन और प्रशासन में बेहतर सुधार लाए जा सकेंगे।

2. विश्व बैंक जैसा संगठन वैश्विक या अंतरराष्ट्रीय विकास और कल्याण या फिर आर्थिक सुधारों के क्षेत्र में कार्य करता रहा है। यह विभिन्न देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है, लेकिन जब यह महसूस किया गया कि यह सहायता और कार्यक्रम इसलिए अपेक्षित स्तर तक प्रभावी नहीं हो पा रहे थे, क्योंकि शासनिक और प्रशासनिक व्यवस्था में कमियाँ थी, तो इनमें सुधार आवश्यक माने गए और शुरू में विश्व बैंक द्वारा सुशासन और विकास को जोड़ने की चेष्टा की गई।



3. धीरे-धीरे समाज के व्यापक उद्देश्यों को प्राप्त करने में राज्य की सीमाएँ सामने आईं और इन सीमाओं को देखते हुए राज्य, निजी अर्थव्यवस्था और सभ्य समाज की भागीदारी को जरूरी समझा गया। सुशासन की अवधारणा राज्य और सभ्य समाज की भागीदारी को लेकर साथ-साथ चलती है तथा आर्थिक विकास को एक माध्यम के रूप में अपनाकर सम्पूर्ण मानव विकास को अपना अन्तिम लक्ष्य मानती है।

4. धीरे-धीरे परिपूरक के रूप में सामने आईं। निजी और लोक अर्थव्यवस्थाओं की भागीदारी बढ़ी। इसके परिणामस्वरूप भी नवीन लोक प्रबन्धन पर आधारित सुशासन की अवधारणा उपयोगी पाई गई। दूसरी ओर सुशासन में भी स्वयं बाधारिक तंत्र और राज्य की संस्थाओं की परिपूरकता आती है।

5. भ्रष्टाचार उन्मूलन की आवश्यकता सदैव बनी रही है। भ्रष्टाचार शासन और प्रशासन के लिए एक बड़ी समस्या रहा है। सुशासन द्वारा भ्रष्टाचार उन्मूलन में सहायता मिलेगी, ऐसी अपेक्षाएँ थी।

6. जैसे तैसे सततता आई, यह महसूस किया गया कि वर्तमान और भविष्य के विकास की आवश्यकताओं में सामंजस्य बैठाया जाए। विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण के विषयों का भी ध्यान रखा जाए तथा भावी पीढ़ियों की भी चिंता की जाए। वस्तुतः सुशासन स्वयं विकास के इन विषयों का ध्यान रखकर चलता है।

7. विकास के उद्देश्य बढ़ रहे थे लेकिन संसाधन सीमित होने की स्थिति में यह जरूरी था कि राज्य अपने अलावा बाह्य संस्थाओं को उद्देश्यों की प्राप्ति करने के साथ ही अपनी गतिविधियों में दक्षता और प्रभावशीलता को भी प्राप्त कर सके। अन्य सम्बन्धित संस्थाओं की भागीदारी प्राप्त करने के विषय का भी सुशासन में ध्यान रखा गया है।

8. 1990 के दशक के बाद नए तकनीकी विकास ने आज दुनिया को दो हिस्सों में बांटना शुरू कर दिया है। एक दुनिया तो डिजिटल है तथा दूसरी अभी

तक नॉन डिजिटल अथवा गैर आंकिक है। सुशासन तकनीकी विकास का सहारा लेकर विकास के लाभों को समाज के अंतिम व्यक्ति तक तो पहुँचाता ही है, साथ ही साथ स्वयं तकनीकी को आम आदमी तक पहुँचाने का प्रयास करता है। फलस्वरूप सम्पूर्ण मानव विकास को समानता के साथ गति मिलेगी।

9. वैश्विक सरकार की दिशा में सुशासन को प्रथम कदम माना गया है।

10. मानव अधिकार और मानव विकास को आर्थिक विकास से जोड़ने में सुशासन कारगर साबित हो सकता है।

11. सुशासन के विकास का एक बड़ा महत्वपूर्ण कारण वैश्वीकरण की अवधारणा भी है। आज सम्पूर्ण विश्व को एक बाजार के रूप में देखा जा रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि सुशासन का प्रयोग वैश्वीकरण व बाजारवाद की बुराइयों को दूर करने व उनसे बचने के लिए किया जा सकता है। कई विकासशील देशों ने सुशासन में उपलब्ध मानवाधिकारों, समता, पारदर्शिता जैसे मूल्यों के आधार पर बाजार व वैश्वीकरण से लोहा लेना शुरू कर दिया है।<sup>47</sup>

### सुशासन : तीन दृष्टिकोण/नजरिए

यहाँ तीन अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों द्वारा सुशासन पर व्यक्त नजरिए को देखना रुचिकर होगा। सन् 1994 में विश्व बैंक<sup>48</sup> ने इस प्रकार सुशासन पर अपने विचार व्यक्त किए..... “सुशासन का अभिप्राय है, भविष्य वाणी योग्य, खुला और प्रबद्ध, नीति निर्माणक एक नौकरशाही जो व्यावसायिक गुणों से लबरेज है। एक कार्यपालिका जो अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी है, एक मजबूत नागरिक समाज जो जन कार्यों में भाग लेता है, खास बात यह है कि ये सभी विधि के शासन में अपना कार्य करते हैं।”

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम में सुशासन का कतिपय वृहत अर्थ लेते हुए इसमें उन प्रक्रियाओं और संस्थाओं को भी शामिल किया गया है जिनके माध्यम से जनमानस और समूह अपने हितों का संयोजन करते हैं, अपने वैधानिक उत्तरदायित्व

की पूर्ति करते हैं और अपने भिन्न दृष्टिकोण में सामंजस्य स्थापन करते हैं।  
(UNDP, 1977)

एशिया और प्रशांत क्षेत्र के लिए आर्थिक और सामाजिक परिषद (ESCAP) ने शासन को उसी स्थिति में सुशासन माना है यदि भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने के लिए ठोस कदम उठाए गए हों, यदि समाज के अल्पसंख्यक वर्ग और समाज के निचले तबके की बात निर्णय-निर्माण में सुना जाना सुनिश्चित हो और यह समाज को वर्तमान और भावी समाज की आवश्यकताओं के प्रति अनुक्रियाशील हो।

विश्व बैंक के समान ही अन्य वैश्विक संस्थाओं जैसे ऑर्गेनाइजेशन फोर इकोनोमिक को-ऑपरेशन एण्ड डवलपमेण्ट (OECD), कमीशन ऑफ ग्लोबल गवर्नैन्स, यूनाइटेड नेशन्स डवलपमेण्ट प्रोग्राम (UNDP) यूनेस्को इत्यादि संस्थाओं ने भी सुशासन के तत्वों और लक्षणों को स्पष्ट किया है। इनमें ओ.ई.सी.डी. ने सुशासन के तहत निम्न संकेतकों की पहचान की –

1. सरकार की वैधानिकता
2. सरकार के राजनीतिक और कार्यालय तत्वों की जवाबदेहिता
3. नीति निर्माण तथा सेवा प्रदान करने में सरकार की क्षमता या अयोग्यता
4. मानवाधिकार तथा विधि की शासन का सम्मान

विश्व बैंक ने सुशासन के 6 संकेतकों की चर्चा की –

- (i) उत्तरदायित्व (ii) राजनीतिक स्थिरता (iii) प्रभावशीलता (iv) नियामक (v) विधि का शासन तथा (vi) भ्रष्टाचार पर नियंत्रण

संतोष कुमार<sup>49</sup> ने अपने आलेख : गवर्नेंस एण्ड पब्लिक पॉलिसी – वर्टिकल मीटिंग हॉरिजेन्टल, योजना (अंग्रेजी) जनवरी (2013) में सुशासन की विशेषताओं को परिभाषित करते हुए कहा है कि “सुशासन” सहभागी पारदर्शी और दायित्वपूर्ण, प्रभावशाली और समता मूलक होता है, यह विधि के शासन को बढ़ावा देता है यह

सुनिश्चित करता है कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्राथमिकताएँ समाज की वृहत सहमति पर आधारित हो और समाज के कमजोर से कमजोर तबके की बात निर्णय निर्माण और विकास संसाधनों के आवंटन में सुनी जाए।

इसी प्रकार अनिल विश्वास<sup>50</sup> ने भी अपने आलेख 'करप्शन, पार्टिसिपेटरी डवलपमेंट एण्ड गुड गवर्नेंस' (योजना जनवरी 2013) में सुशासन की (1) सहभागिता (2) आम सहमति (3) जवाबदेही (4) पारदर्शिता (5) अनुक्रियाशीलता (6) प्रभावशाली और कार्यकुशल (7) न्यायसंगत और समावेशी (8) विधि का शासन को विश्लेषित किया है।

इस प्रकार यह एक व्यापक एवं मूल्य युक्त अवधारणा है जो 'शासन' संकल्पना को अधिक विस्तृत रूप प्रदान करते हुए इसे प्रत्यक्ष रूप से जनसहभागिता, जनकल्याण, जन अधिकारी, जवाबदेहिता, कुशल व प्रभावी प्रशासन, पारदर्शिता और कानून के शासन से सम्बद्ध करते हुए आदर्श लोकतांत्रिक शासन स्थापित करना चाहती है।

### सुशासन के विभिन्न आधार तत्व या आवश्यकताएँ

यदि हम विश्व बैंक और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं तथा लोक प्रशासन के विकास चरणों से क्रमबद्ध विचारों को ग्रहण करें, तो सुशासन के विषय में कुछ मुख्य तत्व स्पष्ट होते हैं। जिनका विश्लेषण प्रस्तुत है –

**1. उत्तरदायित्व/जवाबदेहिता :-** उत्तरदायित्व सुशासन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है और यह एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही उपयुक्त स्वरूप को ग्रहण करता है। जब तक उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्याख्या व व्यवस्था नहीं होगी, सुशासन को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मानव विकास प्रतिवेदन 2002<sup>51</sup> (डिपींग डेमोक्रेसी इन फ्रेंगमेंट वर्ल्ड) में कहा गया कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ और पद्धतियाँ विकसित की जानी चाहिए, जिनमें विभिन्न विषय सम्मिलित हो, सत्य के लिए उपयुक्त प्रतिस्पर्धा भागीदारी हों, जनसमुदाय या लोगों की सहभागिता हो और सत्ताधारी या प्राधिकृत

वर्ग का उत्तरदायित्व हो। इसमें यह भी अपेक्षा की गई है कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों या स्वतंत्रताओं को बढ़ावा दिया जाए, बेहतर, खुले पारदर्शी और सूचित सामाजिक संबंधों का ध्यान रखा जाए तथा संवेदनशील कार्यों का निर्वाह किया जाए ताकि सक्षमताओं का विकास हो सके और विकल्प भी बढ़े।

इसी प्रकार मानव विकास रिपोर्ट 2004 में कहा गया कि मानव विकास रणनीति के तीन आधार स्तम्भ हैं – लोकतंत्र, गरीबोन्मुख विकास, साक्ष्यपूर्ण विस्तार तथा सामाजिक अवसर। इन्हें बिना उत्तरदायी लोक व्यवस्था के पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व जनसमुदाय व लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायित्व की मांग करता है। तथा विधि के शासन के प्रति उत्तरदायित्व की मांग है कि शासन और कुशासन द्वारा गतिविधियों के संचालन में मानवाधिकारों का हनन न हों और न्यायपालिका जैसी संस्थाओं के प्रति उत्तरदायित्व को ध्यान में रखा जाए व साथ ही अपने कार्य व व्यवसाय से जुड़ी नैतिकता को भी ध्यान में रखना जरूरी है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय भागीदारी व वैश्विक सहयोग को देखते हुए वैश्विक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायित्व भी बनता है। अर्थात् यह सुशासन की मुख्य विशेषता है कि सरकार के प्रत्येक अंग की जवाबदेही निर्धारित की जानी चाहिए। विशेष रूप से यह जवाबदेही सार्वजनिक निधि के आवंटन, उपयोग और नियंत्रण के क्षेत्र में अवश्य होनी चाहिए। उत्तरदायित्वता/जवाबदेहिता के बिना सुशासन सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। शासन की समस्त संरचनाएँ जनता के प्रति जवाबदेह होनी चाहिए। यहाँ पर समस्त संरचनाओं से तात्पर्य न केवल सरकारी संरचनाओं/संस्थाओं से है वरन् उन संरचनाओं से भी है जो कि सरकार से बाहर रहकर जन-शासन में सहभागिता करती है। इनमें विभिन्न नागरिक समाज संगठन और निजी क्षेत्र की संस्थाओं को शामिल किया जा सकता है। सामान्यतया एक संगठन अथवा संस्था उनके प्रति जिम्मेदार होता है जो उसके निर्णयों एवं कार्यों से प्रत्यक्ष

रूप से प्रभावित होते हैं। यह तथ्य दृष्टव्य है कि बिना पारदर्शिता एवं विधि के शासन के जवाबदेहिता सुनिश्चित नहीं की जा सकती।<sup>52</sup>

**2. पारदर्शिता :-** सुशासन का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व, जो विश्व बैंक की अवधारणा में भी है वह है पारदर्शिता/परम्परागत गोपनीयता आधारित प्रशासनिक संस्कृति से सूचना, खुलेपन और पारदर्शी कार्य संस्कृति की आवश्यकता पर सुशासन बल देता है। आज विश्व के अधिकांश देशों में सूचना व पारदर्शिता को लेकर कानून बन रहे हैं अथवा बनाए जा चुके हैं, जैसे कि कोलंबिया में 1991 में अनुच्छेद 15 से सम्बन्धित प्रावधान को डाला गया, तो दक्षिण अफ्रीका में 1996 में अनुच्छेद 32 में प्रावधान है। कई देशों में, जहाँ संविधान में प्रावधान नहीं है, स्वतंत्रता और पारदर्शिता से सम्बन्धित कानून बनाए गए हैं, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में 1996 में ही सूचना की स्वतंत्रता का अधिनियम विशेष तौर पर लाया गया और जिसे 2004 में अद्यतन रूप दिया गया और जिसे 2002 के अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन में आ रही कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया। भारत में SMART (Simple, Morale, Accountable, Responsive and Transparent) साधारण, नैतिक, उत्तरदायी, संवेदनशील और पारदर्शी – सरकार की संकल्पना को प्राप्त करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

सूचना का मुक्त प्रवाह पारदर्शिता को सुनिश्चित करता है। **आरिज अहमद के अनुसार**<sup>53</sup> “शासनिक निर्णयों से प्रभावित होने वाले लोगों तक निर्णयों तथा सम्बन्धित जानकारियों की पहुँच होनी चाहिए। सूचनाएँ न केवल सर्वग्राह्य हो वरन् सरलता से समझने योग्य भी होनी चाहिए। इससे जनसम्प्रदाय प्रशासन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोणों का तार्किक निर्धारण करने में सफल होता है।”

अर्थात् सरकार के निर्णय और क्रियाकलाप पारदर्शी होने चाहिए। सूचनाएँ सहज रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। निर्णय निर्माण और उनका क्रियान्वयन विधि संगत होना चाहिए।

नियमों और निनियमों का पालन करते हुए निर्णय लेना और उसे लागू करना संगठन की पारदर्शिता को बढ़ाता है। इसके तहत प्रशासनिक निर्णयों से प्रभावित होने वाले लोगों तक निर्णयों तथा सम्बन्धित जानकारीयों की पहुँच होती है एवं सूचनाओं का सरल प्रवाहन सम्भव होता है। सूचनाएँ न सिर्फ सर्वग्राह्य होती हैं बल्कि सरलता से समझने योग्य होती है। इससे जनसमुदाय प्रशासन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोणों का तार्किक निर्धारण करने में सफल होता है। भागीदारी और पारदर्शिता आज समय की मांग है। क्योंकि प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त है।

संगठनों में इस हेतु जानकारी प्राप्त करने, उसका आदान प्रदान करने तथा उसका उपयोग करने में उपयुक्त सम्बन्ध हो, निर्णयन और नीति प्रक्रिया में उपयुक्त पारदर्शिता होनी चाहिए इत्यादि। पारदर्शिता से लोग ज्यादा सूचित होंगे, लोगों की भागीदारी बढ़ेगी, फलस्वरूप शासन में उत्तरदायित्व बढ़ेगा व सुशासन की स्थापना हो सकेगी।

**(3) सहभागिता या भागीदारी :-** निर्णय निर्माण और विकास कार्यों में जनता की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भागीदारी सुशासन की आधारशीला है। न्यायसंगत पर आधारित मांगे सहभागिता की स्थिति में ही की जा सकती है। इससे समाज की आधारभूत मान्यताओं को सहमति मिलती है और सामाजिक एवं राजनीतिक समरसता को बढ़ावा मिलता है। सहभागिता को बढ़ावा देने के लिए एक और सूचनाओं और संगठन की आवश्यकता होती है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति तथा समुदाय बनाने की स्वतंत्रता की जरूरत होती है। इसके लिए एक सुगठित नागरिक समाज महत्वपूर्ण शर्त है। अर्थात् सहभागिता से तात्पर्य है कि सामान्य जन सुशासन में केन्द्रीय स्थान पर है। ये सुशासन के लाभ प्राप्तकर्ता ही नहीं वरन् सुशासन इन्हीं के माध्यम से सफल हो सकता है। यहाँ पर भागीदारी का आशय समस्त स्त्री पुरुषों की भागीदारी से है। यह भागीदारी न केवल औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं वरन् विभिन्न अनौपचारिक संस्थाओं, नागरिक समाज संगठनों और अन्य समूहों के माध्यम से सुनिश्चित करनी होगी।

अशोक दुबे के अनुसार<sup>54</sup> “यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि एक प्रतिनिधि लोकतंत्र से समाज के सर्वाधिक शोषित वर्ग के सम्बन्ध में निर्णय निर्माण के दौरान संवेदनशीलता दिखाई जाएगी, यह आवश्यक नहीं है। इसलिए भागीदारी को संगठित एवं संसूचित करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ एक तरफ संघ बनाने की स्वतंत्रता एवं विचार अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है वही दूसरी तरफ संगठित लोकसमाज का उदय भी अच्छे शासन की अनिवार्यता है, क्योंकि इसके माध्यम से भागीदारी की बौद्धिकता एवं व्यवहारिकता प्राप्त की जा सकती है। भागीदारी व सहभागिता आज समय की मांग है क्योंकि प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त है। सहभागिता के अनुसार नागरिकों के अधिकार एक-दूसरे पर निर्भर है तथा वे एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। अतएव नागरिकों की समान भागीदारी प्राप्त करके ही उनके अधिकार सुनिश्चित किए जा सकते हैं और अंततः सुशासन प्राप्त किया जा सकता सकता है। सहभागिता या भागीदारी एक आवश्यक तत्व है। सशक्तीकरण, इसका अर्थ है कि व्यक्तियों, सम्बन्धित वर्गों या सामाजिक सम्प्रदायों को प्राधिकृत किया जाए कि वे निर्णय ले सकें, विशेषकर वैसे विषयों में जो उन्हें प्रभावित करने वाले हैं। वर्तमान में सुशासन सशक्तीकरण, संरक्षण और स्वविकास पर बल देता है, जिसके जरिए मानव विकास और नवउदारवाद को पूरक रूप से विकास के कार्यों में प्रयोग किया जा रहा है। सम्पूर्ण विकास और सशक्तीकरण के लिए जनभागीदारी पूर्व दृष्टिकोण को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। सहभागिता को बढ़ाने के लिए विभिन्न विषयों को प्राप्त करना आवश्यक होगा जैसे निर्णयन प्रक्रिया में विकेन्द्रीकरण, स्थानीय निकायों को प्रभावी बनाने और स्थानीय सक्षमता का विकास करने की जरूरत, सहयोग और सहसम्बन्ध, महिला पुरुष समानता और महिला सशक्तीकरण जैसे कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा लिंग सम्बन्धी विकास सूचक और लैंगिक सुधार पर बल दिया गया है, स्वविकास की आवश्यकता और सामुदायिक भागीदारी दृष्टिकोण आधारित विकास की प्रक्रिया उपयोगी होगी। दृढ़ परसोपानिक संगठनों की बजाय लचीले भागीदारीपूर्ण संगठन लाया जाए, मूल्य आधारित प्रबंधन को बढ़ावा मिले, सूचना, शिक्षा और संचार का एकीकृत रूप से



विकास हो इत्यादि। भारत में 10वीं पंचवर्षीय योजना में नियोजन प्रक्रिया में सभ्य समाज की भागीदारी पर बल दिया गया।

**4. वचनबद्धता, निश्चितता या विश्वसनीयता :-** विश्व बैंक द्वारा सुशासन के सन्दर्भ में चौथा अनिवार्य तत्व वचनबद्धता उल्लिखित किया गया है। इसका तात्पर्य नागरिकों को बेहतर जीवन स्तर, मानव अधिकार और बेहतर शासन उपलब्ध कराने में कृत संकल्प होकर कार्य करने से है, अर्थात् सरकार कोई भी नीति, कार्यक्रम या कार्य करेगी वह निर्विवाद रूप से अपने सुशासन के लक्ष्यों के प्रति वचनबद्ध होकर ही करेगी। इसके लिए आवश्यक है कि उपयुक्त कानूनी परिवेश तैयार किया जाए जहाँ अपेक्षित परिणामों को प्राप्त किया जा सके, निर्णयन प्रक्रिया को उपयुक्त रूप से लाया जा सके, उपयुक्त नियमों और आधारों पर कार्य किया जाए, नियमों के प्रयोग और अनुपालन में उपयुक्त निष्पक्षता व निरन्तरता हो, संगठन के उद्देश्य में स्पष्टता हो इत्यादि। इसके अतिरिक्त सिविल सेवा में परिवर्तन लाने पड़ेंगे। उनमें जनविकास व जनता के प्रतिबद्धता जगानी पड़ेगी, प्रक्रियाओं में परिवर्तन तथा प्रशासनिक सत्यता विकसित करनी पड़ेगी जिसमें उपयुक्त निश्चित व विश्वसनीय परिणाम प्राप्त किए जा सकें।

सुशासन यह सुनिश्चित करता है कि आम महत्त्व के सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर समाज में क्रमशः आम सहमति विकसित होनी चाहिए। प्रथम चरण में सरकार, गैर सरकारी संगठनों और जनमानस के बीच सीधा संवाद होना चाहिए, दूसरे चरण में विभिन्न विचारों पर मंथन होना चाहिए, तीसरे चरण में आम सहमति विकसित होनी चाहिए और अंतिम चरण में एक आम सहमति विकसित की जानी चाहिए। अर्थात् समाज के अन्तर्गत अनेक कर्ता और उनके विभिन्न मत हो सकते हैं। सुशासन का उद्देश्य इन विभिन्न मतों और हितों में मध्यस्थता और एकता स्थापित करते हुए उन सर्वश्रेष्ठ हितों को क्रियान्वित करना होता है जो सम्पूर्ण समुदाय के हित के अनुरूप हो। व्यापक मतैक्य को विकसित करने शासन व्यापक

एवं दीर्घकालिक लक्ष्यों का निर्धारण करते हुए सतत् मानवीय को दिशा प्रदान कर सकता है।

**5. विधि का शासन :-** इसका आशय यह है कि सुशासन हमेशा विधि के दायरे में रहकर कार्य करता है। विधि के समक्ष सभी लोग समान है और सभी को विधि का समान संरक्षण उपलब्ध है। इसका आशय यह भी है कि सभी लोगों के लिए विधि एक जैसी है। सुशासन के लिए एक स्वच्छ विधिक प्रारूप आवश्यक है जोकि तटस्थ एवं निष्पक्ष रूप से लागू किया जाये। यह मानवाधिकारों की पूर्ण सुरक्षा की मांग भी करता है। कानूनों को निष्पक्ष एवं तटस्थ रूप से कार्यान्वयन स्वतंत्र न्यायपालिका की उपस्थिति में ही संभव है। निष्पक्ष एवं भ्रष्टाचार रहित पुलिस भी विधि के शासन को प्रभावी बनाने में सहायता कर सकती है। अतः सुशासन के लिए दूसरे अन्य तत्वों के साथ विधि का शासन स्थापित होना भी आवश्यक है। सुशासन के अतिआवश्यक तत्वों में उद्देश्यपूर्ण, विश्वसनीय और स्वतंत्र न्यायपालिका के साथ एक उचित कानूनी वातावरण प्राथमिक तत्वों के रूप में शामिल है। सरकार को अपनी शक्तियों का प्रयोग कानून के अनुसार करना चाहिए। उसे व्यवस्था को कार्यपालिका और उसकी प्रशासकीय शक्तियों को पर्यवेक्षित व अन्वेषित करने का संवैधानिक अधिकार होना चाहिए। जो कोई भी व्यक्ति न्यायालय से निवारण प्राप्त करना चाहता है, उसे बिना किसी भेदभाव के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए, चाहे वह समाज के किसी भी स्तर या तबके का हो।<sup>55</sup>

**6. अनुक्रियाशीलता या संवेदनशीलता :-** संस्थाओं और शासन की प्रक्रियाओं में उन वर्गों या जनसमुदाय के दृष्टिकोण या आकांक्षाओं को ध्यान में रखा जाए जिनके लिए सेवाएँ दी जा रही है। इससे सामाजिक विकास के साथ-साथ आर्थिक परिवेश भी बदलेगा तथा शासनिक और प्रशासनिक व्यवस्था सेवाओं को बेहतर रूप दिए जाने की संरचना, सक्षमताओं, कार्य-व्यवहार इत्यादि में परिवर्तन की आवश्यकता आएगी। सामान्यजन को उपभोक्त व ग्राहक मानकर भी संवेदनशीलता प्राप्त की जा सकती है। अतः सुशासन के लिए आवश्यक है कि शासन तंत्र युक्ति

युक्त समय के भीतर पूर्ण सचेतनता एवं क्रियाशीलता के साथ शासन-सहभागियों को सेवा उपलब्ध कराये। अतः शासन तंत्र को इस प्रकार प्रक्रियाओं का अनुशीलन करना चाहिए जो जनआकांक्षाओं के अनुरूप तुरन्त क्रियाशील होकर अनुक्रिया करे। शासन अनुक्रियाशील होना चाहिए अर्थात् इसका क्रियान्वयन इस प्रकार से हो कि जनमानस की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की पूर्ति की अधिकतम संभावना हो।

**7. दक्षता एवं प्रभावशाली, कार्य कुशल :-** सुशासन के लिए आवश्यक है कि शासन प्रभावशाली और कार्यकुशल होना चाहिए। प्रभावशाली का अर्थ यह है कि निर्णय परिणामपरक होने चाहिए। कार्यकुशलता का आशय यह है कि क्रियान्वयन तेज और समय सीमाबद्ध हो। उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम विवेकशील उपयोग करते हुए स्वीकृत निर्णयों के साथ लक्ष्य की प्राप्ति तथा अनुभूति प्रशासनिक प्रभावशीलता एवं दक्षता को व्यवहारिकता प्रदान करती है। इस सन्दर्भ में सुशासन के तहत पारिस्थितिकी और प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं उनका विवेकशील उपयोग भी शामिल है।

**8. समता एवं समावेशन (साम्य या समदृष्टि) :-** सुशासन के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्य अपने हितों को इससे सम्बद्ध समझते हुए स्वयं को मुख्य धारा से बहिष्कृत न समझे। ऐसा सभी समूहों के लिए आवश्यक है, विशेष रूप से कमजोर व पिछड़े वर्गों, महिलाओं, बच्चों, वरिष्ठ नागरिकों इत्यादि के कल्याण हेतु कुछ विशेष अवसरों की उपलब्धि हो तथा वे निर्णय लेने एवं शासनात्मक गतिविधियों में पर्याप्त स्थान प्राप्त कर सकें। तभी सुशासन की संभावना व्यक्त की जा सकती है। शासन को न्याय पर आधारित और समावेशी होना चाहिए। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह महसूस होना चाहिए कि शासन न्यायसंगत पर आधारित है। शासन को समावेशी भी होना चाहिए अर्थात् समाज के सभी समूहों विशेष रूप से अल्पसंख्यकों तथा साधनहीन जनों के समूहों को यह लगना चाहिए कि वे शासन की मुख्य धारा से जुड़े हैं।

संयुक्त राष्ट्र ने भी कहा है, सभी पुरुषों और महिलाओं को अवसर समान रूप से मिलने चाहिए तथा दोनों की समान भागीदारी होनी चाहिए। जनसंख्या और विकास पर काहिरा में अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन 1114 में हुआ, जिसकी घोषणा में कहा गया कि महिला पुरुष समानता और महिलाओं के अधिकारों का ध्यान रखना मानव विकास के लिए महत्वपूर्ण मुद्दे है। अतः आवश्यक है कि विकास और प्रगति का लाभ समाज के हर वर्ग तक पहुँचे, विशेषकर गरीबोन्मुख विकास हो। समाज के सबसे निचले पायदान पर बैठे सर्वाधिक, वंचित, गरीब, पिछड़े और बेरोजगार व्यक्ति तक विकास पहुँचे और जाति, वर्ग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के भेदभाव के बिना उसे सुशासन का उचित लाभ मिले। आज इसी बात पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है कि विकास गरीब उन्मुख, महिला उन्मुख, रोजगार उन्मुख और पर्यावरण उन्मुख होना चाहिए।

**9. सामंजस्य या सर्वसम्मति मतैक्य :-** किसी भी व्यवस्था या शासन प्रशासन में बहुत से हित या उद्देश्य प्राप्त करने होते हैं और इन उद्देश्यों में विरोधाभास होता है या हो सकता है। इनकी प्राथमिकता को निर्धारित करने में भी क्रम या दुविधा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए जरूरी यह होता है कि सम्बन्धित व गोपनीय समूहों को भागीदारी दी जाए जो विभिन्न तरह के हितों और मतों में सामंजस्य बना सके।

**10. आर्थिक विकास माध्यम (MEANS) और मानव विकास अंतया लक्ष्य:-** सुशासन का उद्देश्य सिर्फ आय सम्बन्धी गरीबी उन्मूलन नहीं वरन् पूर्ण गरीबी का मानवता से उन्मूलन के प्रयास करने से है और विकास को प्राप्त करने में राज्य और गैर राज्य सभी तरह की संस्थाओं की भागीदारी होती है।

विश्व विकास रिपोर्ट 2004 में भी आर्थिक विकास या अन्य विभिन्न सेवाओं को सभी वर्गों तक, विशेषकर गरीब और कमजोर वर्ग तक, पहुँचाने पर बल दिया गया ताकि आर्थिक विकास व मानव विकास को जोड़ा जा सके।

**11. मानव अधिकार और मानव विकास :-** सुशासन में एक ओर तो मानव अधिकारों को बड़े ही व्यापक ढंग से अपनाया गया है और दूसरी ओर उन्हें मानव विकास से जोड़ा गया है तथा इन अधिकारों को सभी को उपलब्ध कराने पर बल दिया गया है। राजनीतिक और नागरिक अधिकारों के अलावा स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता सूचना, विकास इत्यादि जैसे अधिकारों को ध्यान में रखने के प्रयास किए गए हैं। वर्ष 1991 में हरारे कॉनवेलथ घोषणा में भी मानव अधिकारों और मानव विकास के लिए अवसरों के विस्तार पर बल दिया गया है। 86वें संविधान अधिनियम 2002 द्वारा अनुच्छेद 21 के माध्यम से यह अंतःस्थापित किया गया कि राज्य से 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा जैसाकि राज्य उचित रीति से विधि द्वारा अवधारित करे। तदुपरान्त सूचना का अधिकार इसी क्रम में अगली कड़ी है जहाँ मानवाधिकारों का विस्तार कर उसे मानव विकास से जोड़ा जा रहा है।

**12. सभ्य समाज और सरकार के मध्य सहयोग और सहसम्बन्ध :-** सुशासन में उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सरकारी तंत्र या संस्थाओं के अलावा सभ्य समाज की संस्थाओं के प्रयोग पर बल दिया गया है। वास्तव में सुशासन कोई ऐसी धारणा या कार्यक्रम नहीं है, जिसे सरकार स्वयं प्राप्त करे या खुद कर सके। सुशासन को प्राप्त करने में राज्य और गैर राज्य सभी तरह की संस्थाओं की भागीदारी होती है। आर्थिक विकास को माध्यम बनाते हुए सम्पूर्ण मानव विकास प्राप्त करने के लिए सभ्य समाज की भागीदारी से न केवल सरकार और समाज के मध्य की दूरी को कम करने या दूर करने में सहायता मिलेगी, बल्कि इससे शासनिक और प्रशासनिक व्यवस्था को बेहतर भागीदारीपूर्ण और संवेदनशील बनाना संभव होगा जिससे सतत व अनवरत विकास प्रक्रिया को लाभ पहुँचेगा। भारत में सूचना के अधिकार के पीछे एच. डी. शौरी स्वयंसेवी संस्था कॉमन कॉच का बड़ा सच है, तो वहीं 'रोजगार गारंटी अधिनियम' के बारे में कहा जाता है कि यह भी एक स्वयंसेवी संगठन बल्कि एक स्वयंसेवक या एक व्यक्ति विशेष द्वारा तैयार किया गया है। सभ्य समाज

सरकार के साथ मिलकर विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में दर्शाई दृढ़ता का स्पष्ट परिचायक है। सुशासन सभ्य समाज की सरकार के साथ गठजोड़ को सहयोग और सहसम्बन्ध के रूप में बनवा देता है।

वास्तव में सुशासन की उपलब्धि की उपर्युक्त शर्तें अति आवश्यक हैं। वस्तुतः जहाँ ये संकेतक/शर्तें पूर्णतया लागू होती हैं वह समाज सुशासन से प्राप्त होगा। वास्तव में सुशासन कुछ निर्धारित सीमाओं को आवश्यक बनाता है। सुशासन का वातावरण सरकार के सभी अंगों में उत्पन्न होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुशासन की कतिपय महत्त्वपूर्ण पूर्व आवश्यकताएँ हैं जैसे प्रशासन में सरलीकरण एवं कार्यकुशलता, पंचायतों और गैर सरकारी संगठनों में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित करना, संस्थाओं की जवाबदेही, भ्रष्टाचार समाप्त करने में राज्य की सक्षमता, मीडिया, स्वतंत्रता मानवाधिकारों के लिए सम्मान आदि।

यथार्थ विश्व पर दृष्टिपात यह सिद्ध करता है कि सुशासन अभी तक कुछ गिने चुने विकसित देशों में ही स्थापित हो सका है। सम्पूर्ण विश्व और विशेष रूप से तृतीय विश्व के देशों के लिए तो अभी तक यह एक आदर्श बना हुआ है। यद्यपि पिछले वर्षों में इस दिशा में अवश्य प्रारम्भ हुए हैं और संभावनाएँ भी व्यक्त की जा रही हैं कि तृतीय विश्व के कुछ देश सुशासन के पथ पर हैं। इनमें भारत को भी शामिल किया जा सकता है। भारतीय शासन ने भी नवाचारों के तहत इस अवधारणा को स्वीकृति प्रदान कर इस दिशा में कदम उठाने प्रारम्भ किए हैं। पूर्व में स्थापित विकास प्रशासन अब सुशासन के रूप में नवीन कसौटियों के साथ क्रियान्वित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा कुछ विधि निर्माण के साथ व्यवहारिक प्रवास भी किए गए हैं। इस दिशा में स्थानीय शासन संस्थाओं द्वारा भारत में सुशासन की स्थापना में क्रांतिकारी संभावना है विशेष रूप से 73वें, 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् इसे अच्छा स्थानीय स्वशासन के रूप में पहचाना जा सकता है जोकि सम्पूर्ण देश तक विस्तृत होकर सम्पूर्ण भारत में सुशासन की

स्थापना करेगा। इस क्षेत्र में पंचायती राज का योगदान विशेष रूप से संभावनाओं से भरा है।

इस प्रकार सुशासन एक जिम्मेदार प्रजातांत्रिक समाज की समस्त नैतिक अभिलाषाओं, मूल्यों और लक्ष्यों के साथ साम्यता रखता है और स्वयं शासन के प्रत्येक हिस्से में व्यापकता रखने के साथ समाज के प्रत्येक हिस्से में व्याप्त होने का प्रयास करता है। सुशासन अपने आप में एक बहुत बड़ी अवधारणा है जिसमें प्रशासनिक सक्षमता, राजनीतिक प्रणाली, राज्य की विकास अवस्था, बाध्य कारक, अंतरराष्ट्रीय तत्व सभी कुछ शामिल है जो इसमें कार्यान्वयन को चुनौतीपूर्ण बनाते हैं।

सुशासन का मूल इस बात पर भी निर्भर करता है कि किस प्रकार जनसामान्य को प्रेरित किया जाए कि वह अपनी सक्षमताओं के साथ-साथ राज्य समुदाय के विकास में अपनी सेवा व भागीदारी पूर्ण रूप से प्राप्त कर सके। सुशासन का ध्येय यह भी है कि ऐसा वातावरण तैयार किया जाए जिससे लोक सेवकों के साथ-साथ राजनीति का भी सुशासन की चुनौतियों के प्रति जिम्मेदारी से प्रत्युत्तर देने में सक्षम बन सके।

सुशासन का मूलभूत ध्येय है कि –

- (1) प्रभावी और दक्ष प्रशासन की स्थापना करना और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाना।
- (2) नागरिकों के जीवन की गुणवत्ता में निरन्तर सुधार।
- (3) संस्थाओं की साख व वैधानिकता को सुनिश्चित करना।
- (4) प्रशासन को संवेदनशील, नागरिक मित्र, नागरिक पालक व उत्तरदायी बनाना।
- (5) सूचना तथा बोलने की स्वतंत्रता को संरक्षित करने के साथ-साथ शासन की लागत घटाना।

- (6) प्रत्येक विभाग को निष्पादन अभिमुख बनाने के साथ-साथ उसकी लोक सेवा गुणवत्ता को बढ़ाना।
- (7) कार्मिकों की उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि करना।
- (8) भ्रष्टाचार का उन्मूलन कर सरकार की साख में वृद्धि करना।
- (9) सत्ता के प्रयोग में मध्यस्थता या दलाली को दूर करना।
- (10) प्रशासकीय प्रविधियों को सरल और गुणवत्तापूर्ण बनाने व सरकार नागरिक संवाद को बेहतर करने में सूचना तकनीकी का प्रयोग करना।<sup>56</sup>

पाश्चात्य संदर्भ के अभिज्ञान में सुशासन की अवधारणा एक नवीन प्रारूप अवश्य हो सकती है किन्तु भारत के सन्दर्भ में इसमें व्याप्त लक्ष्यों की शुरुआत पंचायती राज की स्थापना के साथ ही हो गई थी। 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् तो इस दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इस संशोधन के कुछ मुख्य लक्षणों में पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिया जाना, महिलाओं के एक तिहाई आरक्षण की व्यवस्था, मुख्य चुनाव आयुक्त के निर्देशन में पंचायतों के चुनाव करवाना, पंचायतों को वित्तीय स्थिति की समीक्षा के लिए प्रति 5 वर्ष पर वित्तीय आयोग का गठन तथा इन्हें 11वीं अनुसूची में शामिल किया जाना इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। इस संशोधन के पश्चात् एक तरह से पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवन तो प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि पंचायती राज संस्थाओं ने भारत में सुशासन स्थापित करने हेतु पथ प्रशस्त किया है। इस परिवर्तन से यह सिद्ध हो गया कि वृहद शासन को तब तक सफल नहीं बनाया जा सकता जब तक कि उसमें जन सहभागिता सुनिश्चित न हो। पंचायती राज व्यवस्था के अनुभव ने यह सबक दिया कि शासन की वास्तविक धुरी जनता ही है और यदि शासन को समृद्ध एवं पोषित करना है तो उसमें व्यापक जनभागीदारी होना आवश्यक है जो कि सुशासन को इंगित करती है। “राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से जनसहयोगिता का विशेष महत्त्व है। गाँव वालों को उनके मामलों में सक्रिय एवं



रुचिशील बनाकर ही उनकी क्षमता एवं आत्मविश्वास को जगाया जा सकता है, उनमें सहकारी जीवन का प्रसार एवं समाज में समरसता की स्थापना की जा सकती है।" सुशासन की स्थापना में जवाबदेहिता एवं पारदर्शिता प्रत्येक स्तर पर अपरिहार्य शर्त कही जा सकती है। इस संदर्भ में जवाबदेहिता एवं पारदर्शिता को पंचायती राज की सफलता के लिए भी पूर्व शर्त के रूप में इंगित किया जा सकता है। पंचायती राज के तहत निम्न स्तर पर गठित की जाने वाली ग्राम सभाएँ न केवल शासन को जवाबदेह बनाने का कार्य करती हैं वरन् उनकी कार्यप्रणाली और मनमाने निर्णय पर भी अंकुश रखती हैं। ग्राम सभा की यह शक्ति पंचायतों को किसी मुद्दे पर निर्णय से पूर्व दो बार सोचने के लिए मजबूर करती है इसी कारण रजनी कोठारी ने ग्राम सभा को राजनेता-नौकरशाहों के गठजोड़ पर निगरानी रखने वाले प्रहरी के रूप में चिह्नित किया। ये ग्राम सभाएँ शासन को जनता के निकट स्तर तक ले जाकर उनकी सहभागिता सुनिश्चित कर सकती हैं।

### **सूचना का अधिकार एक अवधारणा : विवेचन एवं विश्लेषण**

सुशासन के संदर्भ में विगत कुछ दशकों में सम्पूर्ण विश्व में प्रयास किए जा रहे हैं। इसके मूल तत्वों उत्तरदायित्व, पारदर्शिता, उपयुक्त कानूनी परिवेश तथा लोक क्षेत्र प्रबन्धन को मुख्य स्थान विश्व बैंक की अवधारणा द्वारा दिया गया है। आज सुशासन की विभिन्न आवश्यकताओं, जिनमें हम सुशासन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, उनमें सर्वप्रथम स्थान सूचना के अधिकार व सूचना की स्वतंत्रता है। यही वह हथियार है, जिसके माध्यम से इन तत्वों को सुनिश्चित कर सुशासन स्थापित किया जा सकता है। सूचना के अधिकार की मांग वंचित और सुविधाविहीन लोगों को सम्मान और उनकी आजीविका के मुद्दों के प्रति सरकारी एजेंसियों के भ्रम और मनमाने आचरण के खिलाफ लम्बे समय की आवश्यकता के बतौर उठी है या यो कहे कि सरकार में व्याप्त कुशासन के खिलाफ उठी है। मुख्य रूप से वंचित लोगों के क्रियाकलाप ओर उनकी सम्मानपूर्वक समान भागीदारी में लोकतांत्रिक प्रशासन के तौर तरीकों पर निर्भर करता है। सूचना के अधिकार की मांग राज्य के

संगठनों और सभ्य समाज में प्रतिनिधित्व, विविधता और पहुँच से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों को जन्म देती है। अधिकारों को प्रभावी ढंग से हासिल करने के लिए नागरिकता के निजी और सार्वजनिक रूपों से जुड़े इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। कानून बनाना तो केवल इस मांग का छोटा सा हिस्सा भर है। सूचना से उत्तरदायित्व बढ़ेगा और लोकतंत्र के लिए उत्तरदायित्व जरूरी है। सूचना के अधिकार के परिणामस्वरूप पारदर्शिता में वृद्धि होगी, जिससे कार्मिकों की दक्षता में वृद्धि होगी और परिणामतः उत्तरदायित्व बढ़ेगा। अतः स्पष्ट है कि सुशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उसकी प्रथम सीढ़ी सूचना के अधिकार के व्यापक जनहित में प्रयोग से होकर जाती है।<sup>57</sup> आज हम नीतियों, कार्यक्रमों में भागीदारी लाना चाहते हैं कि विकेन्द्रीकरण हो, तो लोकल एरिया नेटवर्क और ग्लोबल एरिया नेटवर्क को प्रभावी स्तर तक जोड़ना होगा, जिसके लिए सूचना का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि सुशासन में एक तरफ विकेन्द्रीकरण की बात की गई है तो दूसरी तरफ सूचना के अधिकार व स्वतंत्रता पर बल दिया जा रहा है। प्रशासन में गोपनीयता स्वविवेकाधिकार को अनावश्यक रूप से बढ़ाती है। प्रभावी सूचना के अधिकार से इस पूरी कड़ी को जोड़ा जा सकता है। आज वैश्वीकरण के फलस्वरूप नए वैश्विक सम्बन्धों और तथ्यों की जानकारी की आवश्यकता दिन प्रतिदिन पड़ती रहती है, जिस हेतु सूचना का प्रयोग अनिवार्य बनता जा रहा है। लोकतंत्र की स्थापना व उसमें सुशासन की उपलब्धता की दृष्टि से भी सूचना का महत्त्व अप्रतिम है। सूचना ही वह शस्त्र है, जो लोकतंत्र में चुनाव प्रक्रिया को निष्पक्ष व ईमानदार बनाती है और प्रभाविकता उत्पन्न करती है। भारत में चुनाव आयोग ने सूचनाओं का चुनावों में बखूबी प्रयोग किया है जिसके प्रत्यक्ष रूप से परिणाम प्राप्त हुए हैं। लोकतंत्र के सभ्य समाज व आम नागरिक की भागीदारी बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामान्य मानवीय विकास मानव अधिकार और पर्यावरण संरक्षण सूचना की बुनियाद पर टिके प्रतीत हो रहे हैं।<sup>58</sup> वर्तमान विश्व में 50 देशों से अधिक देशों द्वारा सूचना के अधिकार कानून लाए जा चुके हैं तथा आवश्यकता अनुरूप संशोधन किए जा चुके हैं। राजस्थान में प्रसिद्ध समाजसेविका अरुणाराय (मैग्सेसे पुरस्कार विजेता)

द्वारा स्थापित 'मजदूर किसान शक्ति संगठन द्वारा प्रतियोगिता ग्राम जनसुनवाई ने पूरे देश में सूचना की शक्ति का बीज बोया तथा जनता को सूचना के माध्यम के रूप में एक सशक्त हथियार दिया, जिससे वह भ्रष्टाचार की जड़ों तक को काट सकती है। राजस्थान में ही महिला अत्याचारों के खिलाफ इसका अभिनव प्रयोग हुआ जिससे यह मांग की गई कि अत्याचार पीड़ित महिलाओं को उनके मामलों में हुई प्रगति, विभिन्न चिकित्सकीय कानूनी व फोरेसिक रिपोर्ट की जानकारी दी जाए। देशभर में नागरिक, पुलिस और जेल प्रशासन पर भी पारदर्शिता व जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सूचना के बाद एक और स्वतंत्रता आंदोलन ने इस सूचना के अधिकार के प्रयोग के रूप में जन्म लिया है।<sup>59</sup>

### सूचना का अधिकार : एक परिचय

'सूचना शब्द आंग्ल भाषा के 'इन्फॉर्मेशन' का हिन्दी रूपान्तरण है, जो लैटिन भाषा के 'फार्मा' से लिया गया है। फार्मा का शाब्दिक अर्थ – 'किसी वस्तु को आकार देना' या 'स्वरूप प्रदान करना' होता है।<sup>60</sup> अतः सूचना से अभिप्राय ऐसी पूर्ण जानकारी से है जो विचारों को पूर्णता एवं यथार्थता प्रदान करती है।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 में 'सूचना' शब्द को बताते हुआ कहा गया है कि 'सूचना' किसी इलेक्ट्रॉनिक रूप से धारित अभिलेख, दस्तावेज, ज्ञापन, ई-मेल, मत सलाह, प्रेस विज्ञप्ति, परिपत्र, आदेश, लॉगबुक, संविदा, रिपोर्ट, कागज-पत्र, नमूने, मॉडल, इलेक्ट्रॉनिक आँकड़ों सम्बन्धी सामग्री और किसी प्राइवेट निकाय से सम्बन्धित विषय सामग्री है, जो किसी लोक प्राधिकारी के पास उपलब्ध हो।'<sup>61</sup>

इस अधिनियम में प्रोएक्टिव डिस्कलोजर की बात की गई है, जिसमें प्रत्येक लोक प्राधिकरण की जिम्मेदारी है कि वह सूचनाओं को स्वयं प्रकाशित करे।<sup>62</sup>

अतः सूचना जानकारी प्राप्त करने का स्रोत है, जो विचारों की अस्थिरता को हटाकर सुदृढ़ता एवं जानकारी प्रदान करती है। सूचना की यह शक्ति वर्तमान

जनतांत्रिक सरकारों में अधिकार के रूप में और अधिक महत्वपूर्ण होकर उभरी है। वर्तमान समय की अधिकांश जनतांत्रिक सरकारों ने अपनी जनता को सूचना प्राप्त करने का अधिकार जनतंत्र को सुदृढ़ एवं मजबूत करने के लिए प्रदान किया है।

**राजनीति विज्ञान कोष के अनुसार :-** “लोकतंत्रीय प्रणाली के अन्तर्गत सरकार के जिन कार्यों का सरोकार जनसाधारण के सामान्य जीवन से जुड़ा हो, उनके बारे में जनसाधारण को उपर्युक्त जानकारी यथाशीघ्र प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। यह अधिकार प्रशासन की गतिविधियों में पारदर्शिता की मांग करता है तथा इसमें यह विश्वास किया जाता है कि ऐसी पारदर्शिता से प्रशासनिक अकुशलता और भ्रष्टाचार को रोकने में सहायता मिलेगी।”<sup>63</sup>

**भारतीय सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 की धारा 2(ज)** में सूचना के अधिकार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “सूचना का अधिकार किसी लोक प्राधिकरण द्वारा या उसके नियंत्रणाधीन ऐसी सूचनायें हासिल करने के अधिकार से सम्बन्धित है, जो सूचना के अधिकार अधिनियम के अधीन प्राप्त हो यथा – निर्माण कार्यों, दस्तावेजों, अभिलेखों का निरीक्षण, नोट्स, उद्धरण, दस्तावेजों व अभिलेखों की प्रमाणित नकल लेना, सामग्री के प्रमाणित नमूने लेना, फ्लोपी, टेप, विडियो, कैंसेट या किसी अन्य इलेक्ट्रॉनिक तरीके में या प्रिंट आउट के जरिये सूचनायें हासिल करना, जहाँ ऐसी सूचनायें कम्प्यूटर या अन्य किसी युक्ति में स्टोर की जाती हो।”<sup>64</sup>

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सूचना का अधिकार जनसाधारण के लिए यंत्र है जो प्रशासन में पारदर्शिता एवं जवाबदेहिता ला सकता है। चूंकि वर्तमान वैश्विक व्यवस्था लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था से निर्देशित है। अतः अधिकांश राष्ट्रों में लोकतांत्रिक व्यवस्था होने के कारण सूचना के अधिकार को स्वीकार किया गया है जिसे विश्व में सूचना के अधिकार के तहत विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

## विश्व में सूचना का अधिकार

विश्व के राष्ट्रों का शीर्ष संगठन संयुक्त राष्ट्र की मान्यता है कि सूचना के अधिकार के बिना विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। 10 दिसम्बर 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' नामक एक प्रपत्र जारी किया था। इस प्रपत्र के अनुच्छेद 19 में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। बिना किसी हस्तक्षेप के विचार निर्मित करना और व्यक्त करना इस अधिकार में सम्मिलित है। देश की सीमाओं की चिंता किये बगैर किसी भी माध्यम से सूचनाएँ एवं विचार एकत्र करने एवं उन्हें लोगों तक पहुँचाने का अधिकार भी इस अधिकार में शामिल है।"<sup>65</sup>

इसी प्रकार दिसम्बर 1966 के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर जारी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र,<sup>66</sup> वैश्विक संगठन यूनेस्को की यूनेस्को घोषणा 1978 तथा मैनी वायसेज वन वर्ल्ड की रिपोर्ट इत्यादि में भी सूचना की स्वतंत्रता के बिना अभिव्यक्ति की समूची अवधारणा को निरर्थक बताया गया है।<sup>67</sup>

वैश्विक स्तर पर इसके विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि स्वीडन वह प्रथम देश है 'प्रेस की स्वतंत्रता' के तहत 1766 में नागरिकों को यह अधिकार प्रदान किया।<sup>68</sup> इसके बाद फिनलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क, अमेरिका, नीदरलैण्ड्स तथा ब्रिटेन<sup>69</sup> आदि ऐसे देश हैं जहाँ के नागरिकों को किसी न किसी रूप में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। इस श्रेणी में भारत देश भी सम्मिलित है, जिसके द्वारा देश के नागरिकों को सरकार की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित जानकारियों को प्राप्त करने का अधिकार 'सूचना का अधिकार अधिनियम : 2005' के तहत प्रदान किया गया है।

## भारत में सूचना का अधिकार

भारत में सूचना का अधिकार सम्बन्धी कानून बनाने की पहल जन-आंदोलन की जमीनी स्तर पर कार्य कर रही एक गैर सरकारी संस्था मजदूर किसान शक्ति

संगठन के द्वारा (MKSS) हुई। इसके अहिंसात्मक आंदोलन द्वारा सरकारी अधिकारियों पर दबाव डाला गया कि वे अपने कार्यों में जवाब देहिता तथा पारदर्शिता लाये। इस संगठन के प्रयास से पूरा देश प्रभावित हुआ जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश में सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 लागू हुआ।

सूचना के अधिकार के इतिहास से सम्बन्धित साक्ष्यों को देखने पर स्पष्ट होता है कि यह अधिकार अंग्रेजों द्वारा शुरू किये गये भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 123 एवं 124 तथा सरकारी गोपनीयता कानून 1923 जो कि विरासत के रूप में स्वतंत्रता के उपरांत भी केन्द्रीय सिविल सेवा नियम 1964, औद्योगिक विवाद अधिनियम 1974 तथा साक्ष्य जाँच आयोग संशोधन अधिनियम 1986 के रूप में रहा की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया।<sup>70</sup>

इस सम्बन्ध में सक्रिय प्रयास 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में 'सूचना के अधिकार' को शामिल कर दिया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने 'न्यूनतम साझा कार्यक्रम' नामक परिपत्र जारी कर गोपनीयता कानून में संशोधन करने की शुरुआत की, जिससे सूचना के अधिकार के बनने की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। 1990 में 'प्रेस परिषद' ने गोपनीयता कानून में संशोधन के लिए सिफारिश की, इसके पश्चात् 1996 में सूचना के अधिकार का मॉडल भारतीय 'प्रेस परिषद' द्वारा तैयार किया गया तथा इसका अध्यक्ष न्यायमूर्ति पी.वी. सावंत को बनाया गया। इसलिए इसे 'सावंत समिति' के नाम से जाना जाता है। प्रेस परिषद द्वारा विधेयक के प्रारूप को कानून बनाने के लिए सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया गया तथा सरकार ने विधेयक के प्रारूप को जाँच करने के लिए दस सदस्यीय समिति जिसे 'शौरी समिति' के नाम से जाना जाता है को सौंप दिया, जिसके अध्यक्ष एच.डी. शौरी थे। समिति द्वारा विधेयक के रिपोर्ट को सरकार को सौंप दिया। इसमें फ्रीडम ऑफ इन्फॉर्मेशन विधेयक से सम्बन्धित प्रारूप तथा कानून बनाने की भूमिका का भी उल्लेख किया गया था। रिपोर्ट में भारतीय साक्ष्य अधिनियम, धारा 123 एवं 124,

सरकारी गोपनीयता कानून (1923) की धारा 5 तथा केन्द्रीय सिविल सेवा नियम 1964 में सुझाये गये संशोधनों का उल्लेख था।

1966 के उपरांत केन्द्र में गठबंधन सरकारों का दौर शुरू हुआ और संयुक्त मोर्चा सरकार अस्तित्व में आयी। इसके द्वारा छः महीने के भीतर सूचना के अधिकार विधेयक को संसद में प्रस्तुत करने को कहा गया। विधेयक के इस प्रारूप पर कोई निर्णय होता इससे पहले 'संयुक्त मोर्चा सरकार' असमय भंग हो गई, जिससे यह मामला आगे नहीं बढ़ पाया।<sup>71</sup>

केन्द्रीय स्तर पर यद्यपि इस अधिकार की प्राप्ति में विलम्ब होता रहा परन्तु राज्य स्तर पर इसको प्राप्त करने के सफल प्रयास होते रहे। राज्यों तथा गैर सरकारी संगठनों से प्रभावित होकर केन्द्रीय स्तर पर पुनः प्रयास 22 दिसम्बर 2002 को संसद ने सूचना की स्वतंत्रता विधेयक को पारित कर किया, परन्तु यह विधेयक पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पाया। इसके पश्चात् 2004 में यू.पी.ए. सरकार द्वारा 2002 के अधिनियम को प्रभावी बनाने का प्रयास किया गया। और संशोधन के फलस्वरूप सूचना का अधिकार अधिनियम 2004 बनाया गया। संसद की स्टैंडिंग कमेटी की रिपोर्ट के बाद इस अधिनियम में दोनों सदनों में 146 संशोधनों के साथ पारित किया गया। 15 जून 2005 को राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् इसे भारत के राजपत्र में 21 जून 2005 को 'सूचना का अधिकार अधिनियम : 2005' कहा गया।<sup>72</sup>

इस पहल के परिणामस्वरूप अनेक राज्यों द्वारा सूचना के अधिकार पर कानून का निर्माण किया गया। इनमें तमिलनाडु देश का प्रथम राज्य है जिसने सूचना के अधिकार के विधेयक को 1997 में पारित किया। तमिलनाडु के बाद गोवा (1997), कर्नाटक (2000), दिल्ली (2001), असम (2002), महाराष्ट्र (2002), मध्यप्रदेश (2003) तथा जम्मू व कश्मीर (2004) आदि राज्यों द्वारा कानून बनाये गये, जिसका उद्देश्य जवाबदेही तथा पारदर्शी सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करना था।<sup>73</sup>

सूचना का अधिकार अधिनियम खुलापन, पारदर्शिता और जवाबदेही युक्त शासन व्यवस्था लाने वाला एक शक्तिशाली यंत्र है। यह लोगों को सरकारी संगठनों

से जानकारी हासिल करने और उनसे सवाल पूछने में हमें सक्षम बनाता है, जैसाकि हमारे चुने हुए प्रतिनिधि विधानमंडल एवं संसद सत्र के दौरान करते हैं। नागरिक सरकार की विधानमंडल एवं संसद सूत्र के दौरान करते हैं। नागरिक सरकार की नीतियों और क्रियाविधियों, विभिन्न कार्यों पर किए गए खर्च, उनसे मिलने वाले लाभ, सुविधाओं, इन्फ्रास्ट्रक्चर की कमी या अनुपलब्धता आदि पर सवाल उठा सकते हैं। ऐसी कोई भी सूचना जो संसद व राज्यविधानमंडलों को नहीं नकारी जा सकती, वह इस कानून के अन्तर्गत आवेदनकर्ता को भी नहीं नकारी जा सकती।<sup>74</sup>

### सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 के मुख्य उद्देश्य

- (1) देश की जनता को सरकार के प्रत्येक विभाग की नीतियों से पूर्णतः परिचित कराना।
- (2) सरकारी विभागों में एक तरह से कैद सूचनाओं को जनता तक आसानी से पहुँचाने के लिए सूचना के अधिकार के सकारात्मक पहलू का कार्यरूप बनाना।
- (3) भ्रष्टाचार को रोकना, सरकारों और उनके कार्यक्षेत्रों के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को जनता के प्रति जिम्मेदार बनाना।
- (4) हर सार्वजनिक प्राधिकरण के कार्य में ईमानदारी तथा जिम्मेदारी को महत्त्व देना।
- (5) सरकारों को सही ढंग से चलाने, धन का अच्छी तरह से इस्तेमाल करने और आवश्यक सूचनाओं को गोपनीयता बनाए रखने के साथ-साथ आपस के विरोधों में तालमेल स्थापित करना।<sup>75</sup>
- (6) नागरिकों को सूचित करना।
- (7) सूचना के लेन-देन में पारदर्शिता लाना।
- (8) केन्द्रीय सूचना आयोग और राज्य सूचना आयोगों का गठन करना।<sup>76</sup>



## राजस्थान में सूचना का अधिकार

राजस्थान में सूचना का अधिकार उतना ही पुराना इतिहास रखता है जितना राजनीतिक संस्थाएँ। भारतीय लोकतांत्रिक संघीय व्यवस्था की इकाई के रूप में 'सूचना के अधिकार' की मांग राजस्थान में ग्रासरूट लेवल से उठी अर्थात् ग्रामीण अकाल पीड़ित किसान मजदूरों ने इस संदर्भ में आवाज उठायी। पहले पहल इस गरीब तबके ने रोटी-रोजगार की मांग की थी तदुपरान्त केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न विकास कार्यक्रमों में हुये घपलों के संदर्भ में 'हमारा पैसा हमारा हिसाब' का नारा दिया। इस नारे के तहत जनता ने अधिकारियों से सरकारी पैसे का हिसाब मांगना शुरू किया और देखते ही देखते यह मांग 'जानने के अधिकार में बदल गयी।'<sup>77</sup>

राजस्थान में 'सूचना का अधिकार जानने के अधिकार' नाम से ग्रामीण इलाके में किसान वर्ग द्वारा शुरू किया गया। इसे व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप देने का श्रेय श्रीमती अरूणा रॉय एवं उनके पति शंकर रॉय को जाता है। शंकर रॉय ने 1972 में जयपुर से करीबन सौ किलोमीटर दूर तिलोनिया गाँव में जाकर एक स्वयं सेवी संगठन, सोशल वर्क एण्ड रिसर्च सेन्टर (SWRC) का गठन किया।<sup>78</sup>

अरूणा रॉय, निखिल डे एवं शंकर सिंह इसके (SWRC) के मुख्य सदस्य थे, जिन्होंने सामाजिक कल्याण के कार्य करते हुए 'सूचना के अधिकार' हेतु आंदोलन संचालित किया। इस हेतु उन्होंने देव डूंगरी गांव जो राजस्थान के चार जिलों अजमेर, राजसमन्द, पाली एवं भीलवाड़ा को चुना। यहाँ इन्होंने अरूणा रॉय की अध्यक्षता में मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS) की नींव रखी।<sup>79</sup> जिसका उद्देश्य सूचना के अधिकार के प्रति जागृति पैदा करना था। आंदोलन की शुरुआत अकाल पीड़ित लोगों हेतु सरकारी विकास कार्यक्रम एवं इन विकास कार्यक्रमों से जुड़े कार्यों मुख्यतः मजदूरों के वेतन, काम के घण्टे तथा मस्टररोल में कितने लोगों को काम दिया गया को जानने की शुरुआत करके की। इससे फर्जी बिल, बाउचर तैयार करने के मामले सामने आये तथा MKSS ने इस फर्जीवाड़े के विरुद्ध आवाज

उठायी।<sup>80</sup> मजदूरों के साथ मिलकर MKSS ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली में पारदर्शिता एवं जवाबदेयता लाने की आवाज उठायी। इसी समय 'अपना गाँव अपना काम' योजना में अनियमितता का भण्डाफोड करने के लिए इससे सम्बन्धित दस्तावेजों की मांग करते हुए 15 जून 1994 को भीम (राजसमंद) में धरणा दिया। 1 जून 1994 में ही मोटकिराना रामपुर (पाली) में ग्रामीणों के दबाव में बी.डी.ओ. ने 10 मास्टररोल की जाँच की जिससे उसमें हुए फर्जीवाड़े का पता चला।<sup>81</sup>

इसके पश्चात् भैरोसिंह शेखावत सरकार के सत्ता में आने के उपरान्त से निरन्तर जनसुवाईयों को MKSS ने हथियार बनाया।<sup>82</sup> पहली जनसुवाई 2 दिसम्बर 1994 को पाली जिले के रायपुर तहसील के मोटकिराना में हुयी थी। इस जनसुनवाई में मस्टररोल में दर्ज फर्जी नामों का खुलासा हुआ जिसमें कुछ ऐसे व्यक्तियों के भी नाम थे, जिनकी मृत्यु हो चुकी थी। इस जनसुनवाई का सरकार पर ज्यादा असर (प्रभाव) नहीं पड़ा। परन्तु मजदूरों में नया जोश एवं उत्साह भर आया। इस प्रकार की द्वितीय जनसुनवाई राजसमंद जिले के भीम पंचायत पर,<sup>83</sup> तृतीय इसी जिले में विजयपुरा गांव में, चौथी अजमेर जिले के जवाजा पंचायत समिति<sup>84</sup> एवं पांचवी जनसुनवाई भीलवाड़ा जिले के थाना क्षेत्र में हुयी।<sup>85</sup>

इन जनसुनवाईयों के दबाव एवं सूचना के अधिकार की पुरजोर मांग के कारण मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत ने नागरिकों को स्थानीय विकास के दस्तावेजों की फोटो कॉपी उचित मूल्य पर उपलब्ध करवाने की घोषणा की परन्तु इस पर ठोस कार्यवाही नहीं हुयी। अतः 6 मई 1997 को MKSS ने जयपुर में स्टेच्यू सर्किल पर 52 दिनों तक धरना दिया, जिसका समर्थन प्रेस परिषद के अध्यक्ष पी.बी. सांमत, वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप नैय्यर, प्रभात जोशी, मेघापाटेकर, स्वामी अग्निवेश एवं प्रेस इन्सिटिट्यूट ऑफ इण्डिया के निर्देशक अजित भट्टाचार्य ने किया। MKSS के आंदोलन की व्यापकता एवं जनसंपर्क को देखकर भैरोसिंह शेखावत सरकार ने 17 जून 1966 को 6 सदस्यीय समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष मुख्य सचिव अरुण कुमार को बनाया गया। समिति ने 29 अगस्त 1996 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट

में प्रशासन को पारदर्शी बनाने एवं पंचायती स्तर पर रिकोर्ड्स की फोटो कॉपी दिये जाने पर बल दिया। इस प्रकार पंचायत स्तर पर सूचना का अधिकार देने का प्रयास किया गया। 1998 में 11वीं विधानसभा चुनाव हुए, जिनमें कांग्रेस ने अपने घोषणा पत्र में सूचना के अधिकार को प्राथमिकता दी।<sup>86</sup>

सत्ताधीशों एवं नौकरशाहों के अनेक अवरोधों के बावजूद अन्ततः पंचायतीराज अधिनियम 1996 में संशोधन किया गया तथा पहली मई 2000 को राजस्थान विधानसभा में राज्य हेतु सूचना का अधिकार विधेयक पारित किया तथा भारतीय गणतंत्र की 51वीं वर्षगाँठ पर 26 जनवरी 2001 को राजस्थान की जनता को सूचना का अधिकार 2000 प्रदान किया गया। इस प्रकार लंबे संघर्ष एवं आंदोलन के उपरांत राजस्थान में सूचना का अधिकार प्राप्त हुआ।<sup>87</sup>

सूचना का अधिकार जवाबदेही और सुशासन लाता है क्योंकि यह गोपनीयता, भ्रष्टाचार, शक्ति का दुरुपयोग और कुप्रबन्धन पर अंकुश लगाता है। सारी दुनिया में सरकारें अपने नागरिकों को अपने कार्यकलापों की ज्यादा से ज्यादा जानकारी उपलब्ध करा रही हैं। दुनिया के 90 से ज्यादा देशों ने सरकारी संस्थाओं द्वारा रखे गए रिकॉर्ड लोगों की पहुँच तक सुगम बनाने के लिए सूचना की स्वतंत्रता अधिनियमों या सूचना के अधिकार अधिनियमों को व्यापक रूप से अपना लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय दबाव, आधुनिकीकरण, भ्रष्टाचार और लोकनिन्दा सूचना के अधिकार की मानवाधिकार के रूप में पहचान आदि कई कारण इस बदलाव के लिए जिम्मेदार हैं। अतः सूचना के अधिकार को वैश्विक आधार पर विस्तार से जानने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय दोनों आधारों पर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। स्वस्थ लोकतंत्र में जनता की भागीदारी को बढ़ावा देना और शासकों को उत्तरदायी बनाना जरूरी है। इसके मद्दे नजर ही बीसवीं शताब्दी में दुनिया के बहुत से देशों ने अपने संविधान में सूचना के अधिकार को स्थान दिया है। सूचना प्राप्ति का अधिकार एक सभ्य गुणात्मक लोकतांत्रिक अच्छा अभिशासन स्थापित करने के लिए अतिआवश्यक है।<sup>88</sup> इसलिए संयुक्त राष्ट्र संगठन ने इसकी महत्ता को स्वीकार करते

हुए 1948 में मानवाधिकारों से सम्बन्धित सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 19 में उल्लिखित किया गया था।

### नेतृत्व अवधारणा : विवेचन एवं विश्लेषण

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सुशासन के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु नेतृत्व की सुदृढ़ता पर विशेष बल दिया गया है। एतदर्थ से ही सुशासन लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप में पंचायती राज को स्थापित एवं सुदृढ़ करने पर बल दिया है। पंचायती राज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लोकतंत्र की प्रथम सीढ़ी पर ही सुशासन की स्थापना रहा जिससे प्रशासन एवं शासन को गति प्रदान की जा सके तथा सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण हो सके।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसकी मूल प्रवृत्ति समूह में रहने की होती है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह का निर्माण करता है एवं उसमें निवास करता है। इन समूहों के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार के आदर्शों, नियमों एवं कार्य पद्धतियों का निर्माण करता है। समूह में इन आदर्शों एवं नियमों का पालन कर पाने, कार्य पद्धतियों के अनुसार कार्य सम्पन्न करवाने एवं समूह के सदस्यों में एकता तथा संगठन बनाए रखने के लिए नेतृत्व की आवश्यकता पड़ती है इसलिए नेतृत्व एक सार्वभौमिक अवधारणा है। समाज चाहे सरल हो या जटिल, आदिम हो या सभ्य, परम्परागत हो या मुक्त किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में नेतृत्व पाया जाता है।<sup>89</sup>

हम तत्त्वविहीन समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। विश्व में जहाँ भी मानव है, वहाँ मानव समाज है, तथा जहाँ भी मानव समाज है वहाँ पर नेतृत्व है। अतः समाज की शक्ति संरचना में नेतृत्व का सर्वोपरी स्थान है। प्रत्येक छोटे और बड़े समाज में छोटे और बड़े समूह और समुदाय में किसी न किसी रूप में नेता और उसके नेतृत्व रूपी स्वरूप को देखा जा सकता है। किसी भी समाज का गतिमान जीवन चाहे वह ग्रामीण है अथवा नगरीय। नेता के निर्देशों, सुझावों, योजनाओं आदि

के आधार पर व्यवस्थित रूप से चलता है। उसके कुशल नेतृत्व का प्रतिफल यह होता है कि सामाजिक जीवन के नियमों और आदर्शों की स्थापना होती है अतः समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए हमें एक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है जोकि समाज के सभी व्यक्तियों को दिशा दे। लोगों का समूह अथवा संगठन के नियंत्रण में होना, नेता की स्थिति और प्रकार्य, नामकरण की क्षमता, मार्गदर्शन करने, दिशा निर्देश देने, रास्ता दिखाने आदि क्रियाओं को हम नेतृत्व की संज्ञा देते हैं।

### नेतृत्व का अर्थ एवं परिभाषाएँ

नेतृत्व के विवेचन में सबसे पहले यह निश्चित करना जरूरी है कि नेतृत्व है क्या? साधारण भाषा में नेतृत्व से अभिप्राय उस योग्यता से है जो अन्य लोगों में एक सामूहिक उद्देश्य का अनुसरण करने की इच्छा जागृत करती है।<sup>90</sup> नेतृत्व वह व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा अन्य व्यक्तियों को निर्धारित लक्ष्य की ओर ले जाने की क्रिया को कहते हैं किन्तु इसमें दबाव का अंश नहीं होना चाहिए। अर्थात् यह व्यक्तियों को प्रभावित करने की कला एवं प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु स्वेच्छा से उनको आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।<sup>91</sup> नेतृत्व में नेता एवं अनुयायी दोनों का ही होना आवश्यक होता है। क्योंकि अगर अनुयायी ही नहीं होंगे तो नेता नेतृत्व किसके ऊपर करेगा अर्थात् समूह में नेतृत्व करने वाले नेता का स्थान सर्वोपरी होता है तथा उसी के निर्देशों का पालन उस समूह के सभी व्यक्ति करते हैं। अतः सभी समाजों में समय-समय पर नेतृत्व की आवश्यकता पड़ती रहती है। एक कुशल एवं सफल नेतृत्वकर्त्ता वहीं होता है जो समूह के सभी सदस्यों को साथ लेकर चलता है। व्यापक अर्थ में नेतृत्व व्यवहार का ढंग है। जिसमें एक व्यक्ति दूसरों के व्यवहारों से प्रभावित होने की अपेक्षा अपने व्यवहार से दूसरों को अधिक प्रभावित करता है।<sup>92</sup>

नेतृत्व को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरीकों से परिभाषित किया है, ये परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

टेनन बाम<sup>93</sup> ने नेतृत्व को अन्तर्व्यक्तिक प्रभाव के रूप में परिभाषित किया है जो किसी विशेष परिस्थिति में डाला जाता है एवं संप्रेषण प्रणाली के द्वारा कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु निर्देशित किया गया है।

प्रसिद्ध विचारक हेमेन<sup>94</sup> ने लिखा है कि “नेतृत्व को एक नई प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है जिसके द्वारा कार्यपालिका व्यक्ति और संगठन के बीच मध्यस्थता कर, कुछ विशेष लक्ष्यों के चयन और उनकी प्राप्ति द्वारा कल्पनात्मक रूप में दूसरों के कार्यों को निर्देशित, पथ प्रदर्शित तथा प्रभावित करती है। यह कार्य उसके द्वारा इस रूप में किया जाता है कि दोनों को अधिक से अधिक संतोष प्राप्त हो।”

शिमट आर. के. अनुसार “नेतृत्व एक व्यक्ति और एक जनसमूह के बीच का ऐसा सम्बन्ध है जिसमें जनसमूह एक सामान्य उद्देश्य को लेकर चलता है और उस व्यक्ति की सलाह और आदेश के अनुसार आचरण करता है।”

किम्बल यंग<sup>95</sup> (1960) के मतानुसार “नेतृत्व एक प्रभुत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पद है जो दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने, मार्ग दिखाने अथवा व्यवहार का आदर्श निश्चित करने की योग्यता द्वारा अर्जित किया जाता है।”

ओ. टीड ने नेतृत्व को परिभाषित करते हुए लिखा है – “नेतृत्व एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लोगों को सहयोग देने के लिए प्रभावित किया जा सके।”<sup>96</sup>

कूण्टज तथा ओन्डोनेल<sup>97</sup> ने नेतृत्व को किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संप्रेषण के माध्यम से अंतैव्यक्तिक प्रभाव डालने की योग्यता के रूप में परिभाषित किया है।

मेकाइवर तथा पेज<sup>98</sup> ने सोसायटी में स्पष्ट किया है कि “नेतृत्व से हमारा तात्पर्य लोगों को प्रोत्साहित करने अथवा निर्देशित करने की वह क्षमता है जो पद से पृथक व्यक्तिगत गुणों से उत्पन्न होती है।”

चेस्टर बर्नाड<sup>99</sup> ने भी नेतृत्व के तीन आधार माने हैं – व्यक्ति, अनुयायी और दशाएँ। उनका कहना है कि नेतृत्व व्यक्तियों के व्यवहार के उन गुणों की ओर इंगित करता है जिनके द्वारा वे संगठन के व्यवहार में लोगों की क्रियाओं को निर्देशित करते हैं।

मूने तथा रेले ने नेतृत्व को सत्ता का ही एक रूप माना है यह रूप तब प्रकट होता है जब सत्ता प्रक्रिया में संलग्न होती है। मूने तथा रेले के अनुसार नेतृत्व एवं सत्ता के बिना कोई भी व्यक्ति नेतृत्व के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकता और सत्ता सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति एक नेता होता है। नेतृत्व शब्द में जो बातें निहित हैं उन्हें केवल सत्ता शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कई बार हम ऐसे व्यक्तियों को नेतृत्व करते पाते हैं जो अधिकृत सत्ता का उपयोग नहीं करते।<sup>100</sup> एल. उर्विक 'नेतृत्व को व्यक्तियों में व्यवहार का ऐसा गुण मानते हैं, जिसके द्वारा वे अन्य व्यक्ति के निर्देशन को स्वीकार करते हैं।' इस प्रकार उर्विक नेतृत्व के सत्तावादी रूप की अपेक्षा उसके गुणात्मक पहलू पर अधिक जोर देता है।<sup>101</sup>

लोपियर तथा फ्रान्सवर्थ ने सोशल साइकोलॉजी में लिखा है कि "नेतृत्व वह व्यवहार है जो दूसरे लोगों के व्यवहारों को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है। जितना कि दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार नेता को प्रभावित करते हैं।"<sup>102</sup>

सीमोन तथा मॉरिस ने नेतृत्व को परिभाषित करते हुए लिखा है "नेतृत्व की एक अनुकरणीय अस्थाई परिभाषा नेतृत्व के स्वरूप पर बल देती है, नेतृत्व के कार्य वे कार्य हैं जो अन्य व्यक्तियों को एक सामूहिक दिशा में कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं। उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित कर लेना ही नेतृत्व नहीं है बल्कि दूसरे के व्यवहारों को इच्छित दिशा में प्रभावित करना नेतृत्व है।

नेतृत्व को परिभाषित करते हुए क्रेच एवं क्रेचफील्ड ने "इण्डिविजुअल इन सोसाइटी में लिखा है "नेतृत्व सम्बन्धी हमारे विवेचन में समूह के उन सदस्यों को

हम नेता के रूप में परिभाषित करेंगे जो समूह के क्रियाकलापों को प्रभावित करते हैं।<sup>103</sup>

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्स में लिखा है कि “नेतृत्व सामाजिक संरचना को परिभाषित परिवर्तित तथा संपोषित करता है इसलिए सामाजिक व्यवस्था नेतृत्व के द्वारा आयोजित की जाती है।<sup>104</sup>

**शेरिफ एवं शेरिफ** ने सोशल साइकॉलोजी में नेतृत्व को परिभाषित करते हुए लिखा है “नेता किसी संगठनात्मक श्रेणीबद्धता में (अपने) सर्वोच्च पद के साथ एक सदस्य है (उसकी) प्रस्थिति के सक्रियात्मक माप के समयानुसार (उसके) प्रभावयुक्त हो अग्रसर होने की मात्रा है।<sup>105</sup>

नेतृत्व की उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि नेतृत्व में दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता होती है। यद्यपि नेता स्वयं भी दूसरों से प्रभावित होता है लेकिन वह दूसरों को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करता है। नेतृत्व एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज की शक्ति संरचना नेता और नेतानुगामियों के बीच होती है। यह एक विशिष्ट व्यवहार है जिसमें नेता अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को अधिक प्रभावित करता है तथा स्वयं कम प्रभावित होता है। इस प्रकार नेतृत्व में दो पक्ष होते हैं – एक प्रभावित करने वाला, जिसे नेता कहा जाता है और दूसरा प्रभावित होने वाला, जिसे अनुगामी कहा जाता है। नेता अपनी नेतृत्व क्षमता से अपने अनुगामी के व्यवहार को निर्देशित और नियंत्रित करता है। नेतृत्व की कार्य शैली उस परिवेश से प्रभावित होती है, जिसमें वह कार्य करता है। समाज विज्ञानों में नेतृत्व की इसी अवधारणा को स्वीकार किया गया है, इसे विस्तृत रूप में डेनियल केट्ज एवं राबर्ट एल. शान द्वारा परिभाषित नेतृत्व की अवधारणाओं में देख सकते हैं। अतः कह सकते हैं कि सामूहिक उद्देश्य के लिए लोगों को स्वेच्छा से कार्य करने की दिशा में प्रभावित करने की क्रिया नेतृत्व है। नेतृत्व में नेता, अनुयायी, परिस्थिति और कार्य चार महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। नेतृत्व किसी एक अथवा कुछ का विशेषाधिकार नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में लूथर कहते हैं “कोई भी व्यक्ति जो साधारण



लोगों की तुलना में दूसरों को सामाजिक, मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्रदान करने में दक्ष हो और सामूहिक प्रत्युत्तर को प्रभावी बना देता हो, वह नेता कहा जा सकता है।” नेतृत्व क्षमता मानवीय समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। मानवीय क्रियाओं में कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ नेतृत्व का प्रभाव नहीं पड़ता हो। चाहे वह क्षेत्र राजनीतिक हो या सामाजिक या कोई भी ऐसा क्षेत्र जो मानवीय क्रियाओं द्वारा संचालित होता है। इस प्रकार नेतृत्व वह अवधारणा है जिसे विभिन्न विचारकों द्वारा समय-समय पर तथा परिस्थितियों के आधार पर भिन्न वैचारिक स्थितियों में परिभाषित किया गया। इन्हीं विचारों एवं परिभाषाओं के आधार पर नेतृत्व की विभिन्न विचारधाराओं का उदय एवं विकास हुआ। नेतृत्व से सम्बन्धित अनेक विचारधाराएँ प्रचलित हैं, जिन्हें नेतृत्व उपबंध अथवा दृष्टिकोण भी कहा जाता है।

### नेतृत्व से सम्बन्धित विचारधाराएँ

विचारधारागत आधार पर नेतृत्व की अवधारणा का विश्लेषण करे तो यह परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण पर आधारित विचारधारा द्वारा विभेदित की जा सकती है। परम्परागत विचारधारा के विचारकों में यह धारणा थी कि नेतृत्व लोगों को इस प्रकार प्रभावित करने की योग्यता है कि वे स्वेच्छा से लक्ष्य के प्रति प्रेरित हो सकें। साथ ही यह मान्यता थी कि नेतृत्व कुछ विशेष गुण अथवा विशेषताओं का समन्वय है, जो व्यक्तियों में जन्मजात पाई जाती है, सिखाई नहीं जाती। परन्तु आधुनिक विचारधारा द्वारा नेतृत्व को किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं समझा जाता। इसके आधार पर नेतृत्व के गुणों को अनुभव, शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को उचित परिवेश मिले तो उसमें नेतृत्व के गुणों का विकास हो सकता है। परम्परागत एवं आधुनिक पर आधारित नेतृत्व की अवधारणा को समग्र रूप से विभिन्न विचारधाराओं द्वारा रेखांकित कर समझा जा सकता है जो इस प्रकार है :-

(1) **लक्षणवादी विचारधारा**<sup>106</sup> :- इस विचारधारा के अनुसार नेताओं में कुछ व्यक्तिगत गुण होते हैं जिनके आधार पर वे संगठन में अपने अनुयायी बना लेते हैं।

चेस्टर बर्नाड एवं आर्ड-वेटीड इस दृष्टिकोण के प्रणेता हैं। इनके अनुसार नेतृत्व वास्तव में एक कला है और एक नेता के रूप में सफलता कुछ विशिष्ट गुणों के होने पर एक कला है और एक नेता के रूप में सफलता कुछ विशिष्ट गुणों के होने पर ही मिल सकती है। इस प्रकार यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि नेता के लक्षण कुछ व्यक्तियों में जन्म से होते हैं, उन्हें अर्जित नहीं किया जा सकता। इसमें न केवल अधिकारी नेता के व्यक्तिगत गुणों का विश्लेषण किया जाता है बल्कि नेतृत्व की सफलता के साथ उन गुणों का भी सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रयास किया जाता है। **टीड के अनुसार** नेता में दस लक्षण आवश्यक हैं शारीरिक शक्ति, उद्देश्य के प्रति निष्ठा, अपूर्व साहस व लगन, स्नेह व मैत्री पूर्ण व्यवहार, व्यक्तित्व, तकनीकी दक्षता, शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता, योग्यता, सिखाने की क्षमता तथा विश्वास।

(2) **स्थितिवादी विचारधारा**<sup>107</sup> :- इस दृष्टिकोण का विकास आर. एम. स्टागडिल तथा उनके सहयोगियों द्वारा किया गया है। इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि गुणों के अतिरिक्त परिस्थितियाँ भी नेतृत्व को प्रभावित करती हैं। इस विचारधारा के अनुसार नेतृत्व की सफलता उस परिस्थिति विशेष से प्रभावित होती है जिनमें नेता कार्य करता है। जिन परिस्थितियों में नेता अपने अनुयायियों का पथ प्रदर्शन करता है, यदि वे अनुकूल हैं तो नेतृत्व प्रभावी माना जायेगा। नेतृत्व की सफलता के अध्ययन में परिस्थिति विशेष का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।<sup>108</sup> यह विचारधारा दर्शाती है कि जिस प्रकार व्यक्तियों की शारीरिक संरचना एक समान होते हुए भी वे एक दूसरे से काफी भिन्न होती हैं। ऐसी मान्यता उन परिस्थितियों या पर्यावरण की देन होती है जिसमें वह समूह कार्य करता है अतः यह आवश्यक है कि समूह की परिस्थितियों के अनुसार नेतृत्व की विधियों में भी परिवर्तन या समायोजन कर लिया जाए। **स्टाडडिल** ने कहा है कि नेता में जिन गुणों, योग्यताओं, विशेषताओं का होना आवश्यक है। उनका निर्धारण काफी सीमा

तक उन परिस्थितियों की आवश्यकताओं द्वारा किया जाता है, जिनमें नेता के रूप में काम करना है।

ब्रैवल्स तथा बैरिट ने अनेक प्रयोगों के आधार पर यह बताया है कि सूचना के आदान प्रदान की विभिन्न परिस्थितियों का नेतृत्व पर क्या प्रभाव पड़ता है। उनका मत है कि यदि संगठन के सभी व्यक्ति सूचना के आदान प्रदान का समान रूप से अवसर प्राप्त कर सके, तो कोई नेता पैदा नहीं हो सकेगा, लेकिन जो व्यक्ति अधिकाधिक आवश्यक सूचना प्राप्त कर सकता है, वह कभी न कभी एक नेता बन जाएगा और इस प्रकार व्यक्तियों का वह समूह भी अपने आपको इस प्रकार व्यवस्थित कर लेगा कि वह नेता बन सकेगा। ब्रैवल्स तथा बैरिट के प्रयोग मुख्यतः मजदूरों के स्तर पर किए गए थे जिन्हें हम प्रबन्ध स्तर पर ज्यों का त्यों लागू नहीं कर सकते। अतः यह आवश्यक है कि समूह की परिस्थितियों के अनुसार नेतृत्व की विधियों में भी परिवर्तन या समायोजन कर लिया जाए। संक्षेप में यह विचारधारा बतलाती है कि एक नेता में जिन गुणों का होना आवश्यक है वह समूह की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

**(3) अनुयायी विचारधारा :-** यह नेतृत्व से सम्बन्धित तीसरी विचारधारा अनुयायियों के गुणों पर जोर देती है। एक नेता के आवश्यक गुणों पर विचार करते समय यह देखना चाहिए कि उसे जिन लोगों का नेतृत्व करना है उनका व्यक्तित्व कैसा है, उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं आदि। नेतृत्व किए जाने वाले व्यक्तियों का भी अध्ययन किया जाना जरूरी है। सेनफोर्ड का यह कहना बिल्कुल सही है कि “एक व्यक्ति के रूप में एक अनुयायी ही होता है और जो अंतिम रूप से नेता को स्वीकार या अस्वीकार करता है। अनुयायी के समझने के अभिप्राय, दृष्टिकोण आदि का यह निश्चय करने में बहुत महत्वपूर्ण योग रहता है कि वह क्या समझेगा और उसके सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया करेगा?”<sup>109</sup>

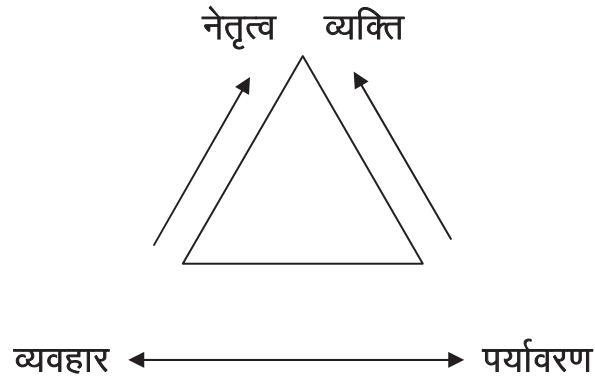
डेविस कीथ आदि लेखकों ने स्पष्ट किया है कि अनुयायियों का चरित्र एवं दृष्टिकोण नेताओं के भाग्य का निर्णायक होता है। अनुयायी नेता को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक सर्वश्रेष्ठ साधन समझता है।

**(4) सम्भाव्यता विचारधारा :-** इस विचारधारा के प्रतिपादक फीडलर है। उनकी मान्यता है कि नेतृत्व की सफलता नेता की कार्यप्रणाली तथा परिस्थितियों की आवश्यकताओं के बीच सही ताल मेल पर निर्भर करती है। यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि प्रभावी नेतृत्व की कोई एक शैली ऐसी नहीं हो सकती जो प्रत्येक परिस्थिति में उपयुक्त हो। परिस्थिति के अनुसार नेतृत्व की शैली में परिवर्तन करने से ही वह प्रभावी बन सकती है। फीडलरके अनुसार व्यक्तित्व और प्रस्तुत परिस्थिति इन दोनों के तालमेल पर नेतृत्व की प्रभावशीलता निर्भर करती है।<sup>110</sup> इसके महत्त्वपूर्ण परिस्थितिमूलक घटक निम्न प्रकार हैं :-

- (1) नेता का अपने समूह के सदस्यों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध
- (2) नेता की पदगत शक्ति
- (3) कार्य संरचना की मात्रा

**(5) समूह तथा विनिमय विचारधारा :-** यह विचारधारा होलेण्डर तथा जूलियन द्वारा प्रस्तुत की गई। इनके अनुसार नेता और समूह अथवा अनुयायियों में विनिमय अथवा आदान प्रदान होना चाहिए। ऐसा करने से ही उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। नेता अपने समूह को प्रशंसा अथवा वेतन वृद्धि व पदोन्नति दे सकता है। बदले में वे नेता को आदर देते हैं और उसके प्रभाव को सही तरीके से स्वीकार करते हैं।<sup>111</sup>

**(6) सामान्य जानकारी विचारधारा :-** बन्दुरा द्वारा प्रतिपादित विचारधारा के अनुसार नेता, पर्यावरण और व्यवहार में निरन्तर पारस्परिक अन्तःक्रिया होती है।



व्यक्ति अपने व्यवहार से पर्यावरण को प्रभावित करता है और प्रभावित भी होता है। आदान प्रदान की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। नेता को यह ज्ञात होता है कि उस पर परिस्थिति और अनुयायियों के व्यवहार का क्या और किस प्रकार का असर है? नेता और अनुयायी यह प्रयास करते हैं कि किस प्रकार की परिस्थितियों में पारस्परिक व्यवहार को किस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है। जिससे उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाये।

**(7) प्रबन्धकीय जाल (ग्रिड) विचारधारा :-** ब्लेंक तथा माउटन के इस विचारधारा के अनुसार नेताओं को कार्यो और व्यक्तियों के प्रति अभिमुख किया जा सकता है। एक नेता का प्रभावशाली होना इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वह कितना कार्य अभिमुख है और कितना व्यक्ति अभिमुख। इस प्रकार वैज्ञानिक तरीके से नेता का केन्द्रबिन्दु कार्य अभिमुखीकरण निकाला जा सकता है। ग्रिड (जाल) में जितने ढंग है उतनी ही व्यक्ति और कार्य अन्तःक्रिया के संभावित खंड है और हर खण्ड का मूल्य निर्धारण किया जा सकता है। जो नेता दोनों बिन्दुओं के केन्द्र को प्राप्त कर सकने में समर्थ हो जाता है वह अपनी टीम का प्रबन्धक या नेता है।<sup>112</sup>

**(8) पथ लक्ष्य विचारधारा :-** नेतृत्व की इस विचारधारा के प्रारम्भिक प्रतिपादक हाऊस है।<sup>113</sup> किन्तु बाद में इसे हाऊस और मिर्चल द्वारा विकसित किया गया। पथ, लक्ष्य विचारधारा इस बात पर बल देती है कि नेता अधीनस्थों को पथ-लक्ष्यों तथा आवश्यकता संतुष्टि के प्रति उनके अवबोध को प्रभावित कर संगठनात्मक प्रभावशीलता के अनुकूलतम बना सकते हैं। इस विचारधारा को पहली

मान्यता यह है कि अधीनस्थों द्वारा नेता को स्वीकारा जाता है और उसके लक्ष्यों योजनाओं व नीतियों का उस सीमा तक प्रत्युत्तर दिया जाता है जिस सीमा तक उन्हें यह लगता है कि उनसे उनकी तात्कालिक या भावी आवश्यकताओं की संतुष्टि होगी। इसकी दूसरी मान्यता है कि नेता अपने अधीनस्थों से सफलता पूर्वक कार्य लेने व संगठनात्मक लक्ष्यों में योगदान करने में उस सीमा तक सफल होगा जिस सीमा तक वह (अ) कर्मचारियों की आवश्यकता संतुष्टि को प्रभावी निष्पादन पर आधारित करता है और (ब) उन्हें प्रभावी निष्पादन के लिए तैयार करता है, मार्गदर्शन तथा समर्थन प्रदान करता है।

अतः यह आवश्यक है कि नेता को अपने अधीनस्थों के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। नेता को अपनी शैली में अपनी अधीनस्थों की मान्यताओं को ध्यान में रखकर समायोजित व संगठित कर लेना चाहिये।<sup>114</sup>

इस प्रकार नेतृत्व की मान्यता के सम्बन्ध में उपर्युक्त सभी दृष्टिकोण प्रमुख हैं किन्तु प्रत्येक की अपनी सीमाएँ हैं। इस सम्बन्ध में डगलस मैकग्रेगर ने लिखा है कि “एक पुराना तर्क है कि नेता इतिहास को बनाता है या इतिहास नेता को बनाता है, इस मान्यता द्वारा तय हो चुका है कि ये दोनों ही कथन अपनी-अपनी सीमाओं में सत्य हैं।”<sup>115</sup>

### नेतृत्व के प्रकार

नेतृत्व राजनीतिक जीवन की क्रियाशीलता का आधार है। इसलिए राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के नेतृत्व के दर्शन होते हैं। विभिन्न विद्वानों ने नेतृत्व के विभिन्न प्रकार बताए हैं।

बार्टलेट ने नेतृत्व के निम्नलिखित वर्गीकरण बताए हैं<sup>116</sup> – (1) संस्थात्मक नेतृत्व (2) प्रभुत्वशाली नेतृत्व तथा हृदयग्राही नेतृत्व।

कोनबे ने भी ‘द क्राउड इन पीस एण्ड वॉर’ में नेतृत्व का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।<sup>117</sup> इसी तरह नेफ ने ‘साइकोलॉजिकल डिस्क्रीप्शन ऑफ लीडरशिप’ में

नेतृत्व का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।<sup>118</sup> इसके अलावा वुल्फ ने 'कन्जरवेशन रेडीकलिज्म एण्ड साइंटिफिक मेथड में' में नेतृत्व का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।<sup>119</sup> प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सी.जी. जुंग ने 'साइकोलॉजिकल टाइम्स' में व्यक्तियों के प्रकारों के आधार पर नेतृत्व को दो वर्गों में बांटा है।<sup>120</sup>

(1) अन्तर्मुखी नेतृत्व :- अन्तर्मुखी नेतृत्व उस नेतृत्व को कहा जाता है जिनकी प्रकृति अन्तर्मुखी होती है। विचार, कला, दर्शन एवं विज्ञान आदि के क्षेत्र में ऐसे ही नेता दिखलाई पड़ते हैं।

(2) बहिर्मुखी :- बहिर्मुखी नेतृत्व उस नेतृत्व को कहा जाता है जिनकी प्रकृति बहिर्मुखी होती है। शासन एवं राजनीति के क्षेत्र में अधिकतर नेतृत्व बहिर्मुखी होते हैं।

अल्फोर्ड एवं बीटी के अनुसार व्यवसायिक क्षेत्र में पाए जौन वाले नेतृत्व के प्रमुख रूप हैं।

1. बौद्धिक नेता
2. संस्थात्मक नेता
3. जनतंत्रीय नेता
4. तानाशाह नेता
5. विश्वास प्रेरक नेता
6. रचनात्मक नेता

जार्ज आर. टेरी ने नेतृत्व को इस प्रकार वर्गीकृत किया है।

1. व्यक्तिगत नेतृत्व
2. अव्यक्तिगत नेतृत्व
3. निरकुंश नेतृत्व

4. जनतंत्रीय नेतृत्व

5. देशी नेतृत्व

6. पैतृक नेतृत्व

एस. एन. सिंह ने नेतृत्व के निम्नलिखित प्रकारों की चर्चा 'डिफरेंट टाइम्स ऑफ लॉकल लीडरशिप इन टू वर्थ इंडियन विलेजस इन स्टडीज इन रूरल लीडरशिप में की है –

(i) परम्परागत (ii) राजनीतिक (iii) मत निर्माता (iv) निर्णयकर्ता तथा (v) जाति नेतृत्व

विभिन्न विद्वानों द्वारा बताए गए नेतृत्व के उपर्युक्त वर्गीकरणों से यह पता चलता है कि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसका वर्गीकरण किया है। इस आधार पर नेतृत्व के कुछ सामान्य प्रकारों की चर्चा की जा रही है जो निम्न प्रकार से है :-

**1. औपचारिक नेतृत्व :-** नेतृत्व का यह रूप व्यक्ति के गुणों के प्रभाव अनुयायियों की इच्छा एवं स्थितियों की अनुकूलता का परिणाम है। औपचारिक नेतृत्व को उष्ण अधिकारियों द्वारा निर्मित किया जाता है। जब एक अध्ययन अपने पद पर नियुक्त होता है तो उसको निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण आदि के वे सब कार्य सौंप दिए जाते हैं, जो एक नेता को सम्पन्न करने होते हैं। जब एक पदाधिकारी को नेता के रूप में औपचारिक दृष्टि से नियुक्त कर दिया जाता है तो उसके सम्मुख अनेक समस्याएँ आती हैं। वह अपने अधीनस्थों को समझने के कारण अनेक गलत निर्णय ले लेता है। इसके फलस्वरूप संगठन में उसके विरुद्ध असंतोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। यदि अपने व्यक्तिगत गुणों द्वारा वह इस वातावरण का प्रतिशोध ना करे तो वह एक नेता के रूप में अधिक दिन तक नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में औपचारिक रूप से नेता होते हुए भी वास्तविक रूप से वह नेता नहीं रहेगा। औपचारिक नेता होने के लिए उष्ण पद के अतिरिक्त एक



व्यक्ति को समूह सदस्यों की स्वीकृति भी प्राप्त करनी होती है। उच्च पद के कारण एक औपचारिक नेता को वास्तविक नेता बनने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। उसके हाथ में अनेक ऐसे साधन होते हैं जिनके माध्यम से वह अपने नेतृत्व की धाक जमा सकता है। पहला साधन उसकी शक्ति है जिसके आधार पर वह आज्ञाकारी सदस्यों को पुरस्कृत एवं विरोधियों को दण्डित कर सकता है। दूसरे, उच्च पद के प्रति सदस्यों के मन में जो आदर की भावना होती है उसका पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए वह सदस्यों की कुछ आवश्यकताओं को संतुष्ट कर उनके मन में अपने नेतृत्व की धाक जमा सकता है तथा उनकी स्वामिभक्ति से लाभान्वित हो सकता है। तीसरे, प्रत्येक संगठन में गुटबंदी होना अनिवार्य है। इन गुटों के विरोधों का लाभ उठाते हुए संगठन का औपचारिक नेता उनसे इस प्रकार की सौदेबाजी कर सकता है जिसके फलस्वरूप उसका नेतृत्व अनुयायियों को मान्य हो सके। औपचारिक नेता के हाथ में एक चौथा विकल्प यह होता है कि वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे जिसमें उसके लक्ष्य एवं उसके अधीनस्थों के लक्ष्य समान बन जाएँ। इस प्रकार दोनों ही क्रियाओं में एक ऐसी समरूपता स्थापित हो जाती है कि अनौपचारिक नेतृत्व का विकास होने की संभावना नहीं रहती है।

**2. अनौपचारिक नेतृत्व :-** अनौपचारिक नेतृत्व एक व्यक्ति को उच्च पद संभालने के कारण अपने आप ही प्राप्त हो जाता है। एक विभागाध्यक्ष अपने विभाग का एक औपचारिक नेता है। चाहे उसमें नेतृत्व के ग्रण हो अथवा न हो। जब औपचारिक नेतृत्व का संगठन के सदस्यों पर थोपा जाता है तो वे प्रायः सम्मान, सत्ता, शक्ति आदि के कारण उसे स्वीकार कर लेते हैं।<sup>121</sup> किन्तु यह स्वीकृति केवल तभी प्राप्त हो जाती है जब औपचारिक नेता अपने गुणों द्वारा अनुकूल स्थितियों की रचना कर अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों को अधीनस्थों के हितों एवं लक्ष्यों के साथ एकाकार कर लेता है। अन्यथा उसका औपचारिक नेतृत्व कुछ दिनों बाद प्रभावहीन हो जाता है। प्रभावहीन औपचारिक नेतृत्व की पृष्ठभूमि में अनौपचारिक नेतृत्व का विकास होता है। प्रो. हेमेन<sup>122</sup> के शब्दों में अनौपचारिक नेता वह व्यक्ति होता है जो

संगठन में किसी सत्तापूर्ण औपचारिक स्थिति के बिना ही समूह के अन्य सदस्यों के व्यवहार को कल्पनात्मक रूप से प्रभावित कर सकता है और जिसके नेतृत्व के लिए समूह के सदस्य स्वेच्छा से अपना समर्पण कर देते हैं।”

औपचारिक नेता की आवश्यकता कुछ विशेष परिस्थितियों का परिणाम होती है। साधारण स्थितियों में संगठन के सदस्य औपचारिक नेता द्वारा दिए गए आदेशों, निर्देशों एवं सुझावों को प्रायः स्वीकार कर लेते हैं। उसके द्वारा दिए गए पर्यवेक्षण, निरीक्षण समन्वय एवं नियंत्रण आदि को निर्विरोध सहन कर लेते हैं। किन्तु जब संगठन में असाधारण स्थिति पैदा हो जाती है जैसे – कर्मचारी वर्ग के वेतन, भत्ते, महंगाई, पदोन्नति तथा ऐसे ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर औपचारिक नेता की नीतियों एवं संगठन के कर्मचारियों की आकांक्षाओं के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाने पर औपचारिक नेता के नेतृत्व को चुनौती दी जाती है। इस प्रकार की चुनौतियों द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी मुख्य अधिकारी को नेता मानने से इन्कार कर देते हैं और पद सोपान में निम्न स्तर के किसी अधिकारी को, जो उनकी आकांक्षाएँ पूरी करने में सहायता दे सकता हो, अपना नेता मान लेते हैं। इस प्रकार बना हुआ नेता अनौपचारिक नेता कहलता है। इसे हम हरबर्ट साइमन<sup>123</sup> के शब्दों में एक ‘स्वाभाविक नेतृत्व’ भी कह सकते हैं जो अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं की मान्यता के आधार पर प्रभाव स्थापित करता है।

इस प्रकार अनौपचारिक नेतृत्व का परिस्थितियोंवश प्रार्दुभाव होता है। एक अनौपचारिक नेता के व्यक्तिगत गुणों का प्रभाव तभी हो सकता है जब उसके अनुयाइयों में यह विश्वास की भावना हो कि उसमें वे गुण मौजूद हैं।<sup>124</sup> अनौपचारिक नेता की शक्ति का आधार पद या स्थिति ही होती है, बल्कि उसके अनुयायियों का यह विश्वास एवं भावना होती है कि वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता दे सकता है। जब किसी भी संगठन के किसी सदस्य के सम्मुख कोई समस्या उपस्थित होती है तो वह निर्देशन एवं पथ प्रदर्शन के लिए औपचारिक नेता के पास जाता है। यह जरूरी नहीं है कि अनौपचारिक नेता द्वारा

अपनाई जाने वाली नीतियाँ एवं प्रक्रियाएँ औपचारिक नेता के समरूप हो। इसके विपरीत प्रायः इन दोनों में भिन्नता पाई जाती है। संगठन में अनौपचारिक नेता का वास्तविक प्रभाव होने के कारण औपचारिक नेता द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कई बार वह अपनी शक्ति और पद के आधार पर अनौपचारिक नेतृत्व को दबाने की चेष्टा करता है। फिर भी सामान्य रूप से एक बुद्धिमान उच्च अधिकारी वह समझा जाता है, जो अनौपचारिक नेतृत्व का दमन करने की अपेक्षा संगठन के लक्ष्यों की दिशा में उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का आश्वासन देता है।<sup>125</sup>

**3. सत्तावादी नेतृत्व :-** नेतृत्व का यह वह रूप है जिसमें निर्णय लेने की तथा नीति निर्धारण करने में संगठन के सदस्यों की इच्छा को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। स्वयं नेता सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय अपनी इच्छानुसार लेता है। इस प्रकार के नेतृत्व में नेता और अनुयायी के बीच का सम्बन्ध सत्तापूर्ण प्रकृति का होता है। नेता का कार्य केवल निर्देशन करना और अनुयायियों का कार्य उन निर्देशनों के अनुसार अपने व्यवहार को संचालित करना होता है। नेता संगठन के सदस्यों की समस्याओं को कोई महत्त्व नहीं देता। उसका मुख्य सम्बन्ध कार्य से रहता है। ऐसे नेता की दृष्टि में 'आराम हराम' होता है। संगठन के कार्यकर्ता अपनी समस्याओं एवं कठिनाईयों को भूलकर केवल काम में लगे रहे यही इस प्रकार के नेतृत्व की सफलता का प्रतीक है।<sup>126</sup> सत्तावादी नेतृत्व की प्रकृति आक्रामक होती है। वह दमनकारी साधन अपनाकर समाज में कार्यकुशलता लाने का प्रयास करता है। यदि किसी सदस्य द्वारा इस नेतृत्व के विरुद्ध कोई बात कही जाती है तो उसे दण्डित किया जाता है। सैनिक तानाशाही से संचालित प्रशासनिक व्यवस्थाओं में इसी प्रकार का नेतृत्व पाया जाता है। इस नेतृत्व के प्रति लोगों में स्वाभाविक श्रद्धा की भावना नहीं होती है, अपितु उसके विरुद्ध बराबर असंतोष भड़कता रहता है। पद सोपान तथा आदेश की एकता आदि सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाली संगठन की परम्परावादी विचारधारा मूलरूप से सत्तावादी नेतृत्व का समर्थन करती है।<sup>127</sup>

**4. प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व :-** नेतृत्व का एक अन्य रूप प्रजातन्त्रात्मक है जिससे संगठन के सभी सदस्यों को संगठन के कार्यों में योग देने का अवसर प्रदान किया जाता है। इसे सहभागी नेतृत्व या परामर्शात्मक नेतृत्व भी कहते हैं। इसमें जब एक नेता निर्णय लेता है तो वह अधीनस्थों की राय जान लेता है। कई संगठनों में यह व्यवस्था होती है कि निर्णय लेने के पूर्व सदस्यों द्वारा अपने सुझाव अध्ययन के पास भेज दिए जाते हैं। और वह इन सुझावों के आधार पर नीति एवं कार्यक्रम सम्बन्धी निर्णय लेता है। नेतृत्व का यह रूप कर्मचारियों के हित एवं उनके सक्रिय सहयोग पर बहुत अधिक बल देता है। प्रेरणा देना तथा चरित्र निर्माण करना इस नेतृत्व के मुख्य कार्य हैं। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व को ही नेतृत्व का सही रूप समझा जाता है।<sup>128</sup> जैसाकि हेमेन ने कहा है कि नेतृत्व एक प्रक्रिया है और अधीनस्थों के कार्यों का पथ प्रदर्शन, निर्देशन एवं प्रभाव डालने वाली क्रिया है जिसमें वे स्वेच्छा से लक्ष्यों की ओर अग्रसर होते हैं।”

प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता बहुत अच्छा सहनशील श्रोता होता है। एक अच्छा तथा कुशल प्रजातन्त्रात्मक नेता वह है जो अपनी इच्छाओं एवं निर्णयों को संगठन में इस प्रकार प्रकट करता है कि वे सामान्य स्वीकृति प्राप्त कर ले। प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व प्रायः मजदूर संघों एवं अन्य स्वेच्छाचारी समुदायों से अधिक संभव होता है। जिन संगठनों में अंतिम शक्ति भाग लेने वालों के हाथों में निहित रहती है वे प्रायः इस प्रकार के नेतृत्व को अपनाते हैं।

**5. बाहरी नेतृत्व :-** संगठन में कई बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब उसके सदस्य संगठन के ही किसी व्यक्ति को नेता मानना उचित नहीं समझते तथा संगठन के बाहर का व्यक्ति नेतृत्व करने के लिए नियुक्त किया जाता है। वह बाहरी व्यक्ति या तो किसी अन्य संगठन का उच्च अधिकारी होता है या राजनीतिक क्षेत्र का माना हुआ व्यक्ति।<sup>129</sup> बाहरी नेतृत्व का रूप प्रायः सामूहिक भी हो जाता है जबकि समूह की समिति या बोर्ड संगठन के नेतृत्व के कार्य को सम्पन्न करते हैं। बाहरी नेतृत्व का एक दूसरा रूप वह है जब संगठन की एक इकाई के सदस्य

अपने में से किसी व्यक्ति को नेता बनाकर संगठन की ही दूसरी इकाई के किसी व्यक्ति को नेतृत्व का कार्य सौंप देते हैं। पद सोपान की दृष्टि से बाहरी नेतृत्व का अर्थ उस व्यवस्था से भी लिया जाता है जहाँ किसी वरिष्ठ अधिकारी को एक समूह द्वारा अपना नेता मान लिया जा सकता है।

**6. आंतरिक नेतृत्व :-** इस व्यवस्था में एक नेता या तो संगठन के अन्दर का होता है या उसी इकाई का होता है अथवा उस समूह के लोगों में से ही होता है।<sup>130</sup> आंतरिक नेतृत्व के प्रायः वे सभी लाभ हैं जो बाहरी नेतृत्व की हानियाँ हैं। जब एक नेता नेतृत्व किए जाने वाले व्यक्तियों में से ही लिया जाता है तथा उन्हीं के स्तर का होता है तो यह आशा की जाती है कि वह संगठन के सदस्यों की समस्याओं को अच्छी तरह समझ सकेगा और उन्हें सुलझाने में अपना सक्रिय सहयोग देगा।<sup>131</sup> लोगों के दिल में अपने समूह के व्यक्तियों के प्रति एक प्रेमभाव होता है। जिन परिस्थितियों में से व्यक्ति निकला हुआ होता है अपरिस्थितियों में उलझे हुए व्यक्ति के प्रति उसके मन में सहज प्रेम और सहानुभूति की भावनाएँ विकसित हो जाती हैं।<sup>132</sup>

एक अन्य तथ्य यह भी महत्वपूर्ण है कि यदि नेता महत्वाकांक्षी व्यक्ति है तो वह संगठन के अन्य सदस्यों के साथ एकरूपता कायम नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में समूहों के सदस्यों का कल्याण तथा उसके लक्ष्य नेता की भलाई तथा व्यक्तिगत लक्ष्यों से कम महत्वपूर्ण बन जाते हैं। महत्वाकांक्षी नेता घनिष्ठ रूप से अपने अधीनस्थों के साथ एकाकार हो पाता है और उनके हितों की रक्षा के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहता है।

उपरोक्त वर्गीकरण के आधार पर स्पष्ट होता है कि चाहे किसी भी संस्था एवं संगठन में नेतृत्व हेतु कुछ विशिष्ट गुणों की आवश्यकता नेतृत्वकर्ता में अपरिहार्य रूप से होनी चाहिए। अतः प्रस्तुत अध्ययन में महिला नेतृत्व द्वारा सुशासन को गति प्रदान करने के लिए नेतृत्व में कौन-कौन से गुणों की अपरिहार्यता होगी,

इस बिन्दु को ध्यान में रखते हुए नेतृत्वकर्ता के सार्वभौम एवं समग्र गुणों का विवेचन एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

### नेतृत्व के सार्वभौम एवं अपरिहार्य गुण

संगठन को नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्तियों में ऐसे गुण अपेक्षित हैं, जो अनुयायियों या सहयोगी सदस्यों को प्रभावित कर सकें। किसी भी प्रशासनिक उपक्रम की सफलता उस उपक्रम के प्रबन्धकों के नेतृत्व सम्बन्धी गुणों पर निर्भर करती है। यदि उपक्रम में सफल नेतृत्व होता है और उसमें अपेक्षित गुण पाये जाते, तो उपक्रम के इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। नेतृत्व के आवश्यक गुणों का वर्णन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। नेतृत्व के आवश्यक गुणों का वर्णन करते हुए डेविस कीथ ने एक सफल नेतृत्व से सम्बन्धित चार गुणों का वर्णन किया है – प्रथम – बुद्धि, द्वितीय – सामाजिक परिपक्वता, तृतीय आन्तरिक प्रेरणा, चतुर्थ – मानवीय सम्बन्ध दृष्टिकोण।

राबर्ट वाल्ड तथा रॉय डोटी<sup>133</sup> ने बताया कि नेता को अपनी वर्तमान पारिवारिक इकाई से सम्बन्धित रहना चाहिए, उसे औसत से अधिक शिक्षित होना चाहिए, सामाजिक संगठनों का नेता होना चाहिए, उन नैतिक स्तर के विकास के लिए धर्म में रुचि लेनी चाहिए और उसका स्वास्थ्य अच्छा रहना चाहिए।

नेतृत्व के आवश्यक गुणों का वर्णन करते समय चेस्टर बर्नार्ड ने एक सफल नेतृत्व के लिए निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया है।<sup>134</sup>

**1. जीवन शक्ति एवं धैर्य :-** नेतृत्व के ये गुण सामान्यतः अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य से कुछ अधिक होते हैं। इन्हें द्वारा विशद् अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। ये व्यक्तिगत आकर्षण के तत्व हैं। कोई भी नेतृत्व संघर्ष के एक लम्बे समय के बाद उजागर होता है और लम्बे संघर्ष का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त जीवन शक्ति एवं धैर्य की आवश्यकता होती है।

**2. निर्णय लेने की क्षमता :-** संगठन के नेता में तत्काल निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए। निर्णय लेने का अर्थ है उचित समय पर उचित कार्य सम्पन्न करना और अनावश्यक कार्यों को रोकना। निर्णय लेने की क्षमता का अभाव संगठन के कार्यों पर विध्वंसात्मक प्रभाव डालता है।

**3. समझाने की समता :-** संगठन का लक्ष्य कुछ कार्य सम्पन्न करना होता है। नेता इन कार्यों की सम्पन्नता में संगठन को सहयोग प्रदान करता है – नेता अकेला संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में असमर्थ है। इसके लिए जरूरी है कि वह अन्य सदस्यों का सक्रिय, रचनात्मक एवं स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करे। इसके लिए नेता संगठन के अन्य सदस्यों को समझाता है और उन्हें कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

**4. उत्तरदायित्व :-** नेता का व्यवहार उत्तरदायित्वपूर्ण होना चाहिए अर्थात् वह गलत या सही कार्यों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होता है। एक उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में नेता के व्यवहार की विशेषता 'स्थायित्व' होता है। ऐसा होने पर ही संगठन के दूसरे लोग उसे समझ पाएँगे।

**5. बौद्धिक कार्य :-** एक नेता को बुद्धिमान होना चाहिए ताकि उसके निर्णय सही तथा बुद्धिपूर्ण हो। बौद्धिक सामर्थ्य का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह नेता के अन्य गुणों को सार्थक बनाती है।

**हेनरी फेयोल के विचार<sup>135</sup> –** हेनरी फेयोल के द्वारा उल्लिखित गुण भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने एक सफल नेतृत्व के लिए व्यक्ति में जो विशेषताएँ आवश्यक मानी हैं वे निम्न प्रकार हैं :-

1. स्वास्थ्य और शारीरिक सामर्थ्य
2. मानसिक शक्ति
3. नैतिक गुण, जैसे कर्तव्य का ज्ञान, सामान्य हित की भावना, स्थिरता, एक सा व्यवहार, विचारपूर्ण निर्णय एवं उत्तरदायित्व स्वीकार करने का साहस

4. सामान्य शिक्षा
5. प्रबन्धात्मक योग्यता अर्थात् दूरदर्शिता, कार्य की योजना बनाने की सामर्थ्य, संगठन की रचना का ज्ञान, आदेश देने एवं व्यक्ति से कार्य लेने की कला, समन्वय एवं सभी कार्यों के बीच सामंजस्य पैदा करना एवं नियंत्रण।

**सरविलियम्स स्लिम के विचार<sup>136</sup>** – नेतृत्व के लिए महत्त्वपूर्ण गुणों का वर्णन करते समय फील्ड मार्शल सर विलियम स्लिम ने इस प्रकार के पाँच गुणों का उल्लेख किया है –

**1. साहस :-** नेता में महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए साहस होना चाहिए। नेता को कई बार ऐसे कार्य करने होते हैं जिनकी प्रकृति क्रांतिकारी होती है। नेतृत्व का अधिकांश व्यवहार पहल से प्रभावित रहता है। साहस को सभी सद्गुणों का आधार समझा जाता है। एक उच्च श्रेणी का नेता नैतिक साहस से उत्पन्न होना चाहिए।

**2. इच्छाशक्ति :-** एक नेता का उत्तरदायित्व है, कुछ कार्यों को सम्पन्न करना। नेता के कार्य कठिनाइयों तथा समस्याओं से पूर्ण होते हैं जिनमें बाधाओं और विरोधों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रबल इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है।

**3. मस्तिष्क की लोचशीलता :-** यह विकास का एक सिद्धान्त है कि गुण परिवर्तनशील है तथा उसकी परिस्थितियाँ बदलती रहती है। जो इन परिवर्तनों के साथ अपने आपको नहीं बदल पाता, वह पिछड़ जाता है। परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको तथा संगठन को ढाल लेना एक नेता का विशिष्ट गुण है।

**4. ज्ञान :-** संगठन के सफल नेता को अपने संगठन की प्रत्येक गतिविधि का ज्ञान रहना चाहिए। उसे विभिन्न मजदूरों एवं कठिनाइयों से परिचित रहना चाहिए तथा यह जानकारी होनी चाहिए कि किसी विशेष कार्य में कितना समय लगेगा और कार्यकर्ताओं को किस प्रकार की सहायता प्रदान करनी होगी।<sup>137</sup>



5. **ईमानदारी** :- ईमानदारी नेता का वह गुण है कि दूसरे गुणों की सिद्धि सम्भव बनाता है। ईमानदारी के व्यवहार के कारण नेता संगठन के सदस्यों का विश्वास पात्र बन जाता है।<sup>138</sup>

एल.एफ. उर्विक के अनुसार नेतृत्व के छः प्रमुख योग्यताएँ होती हैं।<sup>139</sup>

1. **आत्मविश्वास** :- संगठन के नेता को अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य का वस्तुगत ज्ञात होना चाहिए और उसके आधार पर उसमें आत्म विश्वास की भावना रहनी चाहिए ताकि उसके निर्णयों में निर्भयता एवं संकोचहीनता हो। कभी-कभी आत्मविश्वास और मिथ्या भ्रम को एक मानने की गलती कर दी जाती है। मिथ्या भ्रम आत्मज्ञान पर आधारित नहीं होता। मिथ्या-अभिमान से नेता संगठन में ही अपने अनेक विरोधी पैदा कर लेगा। वह एक सच्चे नेता के रूप में विश्वास पैदा नहीं कर सकता।<sup>140</sup>

2. **व्यक्तित्व** :- नेता का व्यक्तित्व आकर्षक होना अत्यन्त आवश्यक है। संगठन के लोगों को प्रभावित करने के लिए नेता के व्यक्तित्व में कुछ असाधारण गुण होने चाहिए। इस दृष्टि से उसकी शारीरिक बनावट, पहनावा आदि प्रथम रूप से उल्लेखनीय है। किसी भी अपरिचित व्यक्ति पर सर्वप्रथम प्रभाव नेता की शारीरिक रचना एवं ऊपरी व्यवहार का पड़ता है। अधिकांश लोग तो नेता की चाल-ढाल एवं व्यवहार के अन्य तरीकों से ही प्रभावित होते हैं। नेता में जनसामान्य के हृदय तक पहुँचने की सामर्थ्य होनी चाहिए। समूह के सभी सदस्यों के प्रति यदि उसके दिल में सद्भाव है और वह उनके साथ मिलने में रुचि एवं उत्साह प्रदर्शित करता है तो बहुत कम समय में ही लोकप्रिय एवं प्रभावशाली नेता बन जाएगा।

3. **जीवनशक्ति** :- नेता के व्यक्तित्व का बाहरी रूप प्रभावशाली होना चाहिए क्योंकि इसी के माध्यम से वह अपने अनुयायियों को प्रथम साक्षात्कार में ही प्रभावित कर लेता है। समूह के लोगों में उसके प्रति चर्चाएँ होती हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रतिरूप बनता है। नेता को आंतरिक व्यक्ति की प्रतिमा से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें एकजीवन शक्ति होनी चाहिए जिसके द्वारा वह संगठन के निराश

लोगों में आशा, निष्क्रिय लोगों में क्रियाशीलता, उत्साहहीन लोगों में उत्साह पैदा करने के अतिरिक्त संगठन के गुणवान लोगों को भी प्रोत्साहन प्रदान कर सके। नेता की जीवन शक्ति एवं आकर्षण कई बार संगठन के सदस्यों के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण मोड़ बन जाते हैं।<sup>141</sup>

**4. सामान्य बुद्धि :-** नेता का बुद्धिमान होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ताकि वह निर्णय लेते समय उसके स्वरूप एवं परिणामों पर सभी पहलुओं से विचार कर सके। उसकी बुद्धि का स्तर एकांगी नहीं होना चाहिए। बुद्धि से नेता अपने उत्तरदायित्वों को सफलता पूर्वक निभा पाता है।

**5. संचालित करने की योग्यता :-** संचार व्यवस्था नेता के शस्त्रागार का एक मुख्य शस्त्र है जिसके माध्यम से वह अपनी आज्ञा, निर्देश सुझाव एवं दृष्टिकोण आदि संगठन के अन्य लोगों तक संचारित कर सकता है। नेता संगठन के सभी कार्यों को स्वयं नहीं कर सकता। वह दूसरे लोगों में कार्य को इस प्रकार विभाजित करता है कि ये सभी स्वेच्छा से सहयोग प्रदान कर उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सके। यह सब करते हुए वह संचार व्यवस्था का सहारा लेता है ताकि लोगों में भ्रम न बढ़े एवं कुशलता बनी रहे।<sup>142</sup>

**6. न्यायपूर्ण निर्णय :-** नेता संगठन का प्रभावशाली व्यक्ति होता है जिसकी सद्भावना पाने के लिए लोग मिथ्या प्रशंसा, असत्य सूचनाओं आदि का आश्रय ले सकते हैं। अतः नेता में सत्य असत्य को पहचान कर परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करने की क्षमता होनी चाहिए।<sup>143</sup> न्यायपूर्ण निर्णय देने की प्रक्रिया में व्यक्ति की अन्तरात्मा का महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी योग्य नेता के लिए निम्न गुणों का होना अपरिहार्य है –

1. आत्मविश्वास
2. प्रभावशाली व्यक्तित्व

3. जीवन शक्ति और दृढ़ इच्छाशक्ति
4. निर्णय लेने की शक्ति
5. उत्तरदायित्व की भावना
6. सामान्य ज्ञान
7. प्रबन्धात्मक योग्यता
8. न्यायपूर्ण निर्णय
9. सही समय पर सही निर्णय लेने की शक्ति
10. प्रभावशाली व्यक्तित्व

इस प्रकार नेतृत्व की अवधारणा को विभिन्न विचारकों ने परिभाषित कर इससे सम्बन्धित दृष्टिकोणों एवं आयामों का विवेचन किया। साथ ही नेतृत्वकर्ता में किन-किन गुणों की अनिवार्यता पर भी प्रकाश डाला गया है।

इसी आधार पर हम प्रस्तुत अध्ययन से सम्बन्धित महिला नेतृत्व की अवधारणा को भी विश्लेषित कर सकते हैं।

मानव विकास के इतिहास में नारी की मुख्य भूमिका जननी व माँ की है, जो अपने रक्त माँस भज्जा से एक शिशु का निर्माण करती है, अपना अमृत रस पिलाकर शिशु का पोषण कर नितान्त असहाय शिशु का सर्वतोभावेन संरक्षण करके उसे बड़ा करती है। स्त्री न केवल संतान/मनुष्य को जन्म देती है अपितु उसे चतुर्दिक फैली विविध प्रकृति में जीवित रहने योग्य भी बनाती है। यह क्रम अनादि काल से निरन्तर चला जा रहा है, फिर भी ऐसी सहनीय भूमिका वाली नारी का अपना स्थान कब पुरुष के समान समकक्ष से हटकर निम्न, निम्नतर और निम्नतम होता चला गया। इसका अनुमान लगाना कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है।”

## भारत में महिला नेतृत्व : विवेचन एवं विश्लेषण

भारतीय समाज में स्त्रियों को ज्ञान, शक्ति एवं सम्पत्ति का प्रतीक माना जाता है। इन तीनों प्रतीकों के रूप में हिन्दू समाज नारी रूप, सरस्वती, दुर्गा एवं लक्ष्मी की पूजा करता है। नारी परिवार की नींव है, परिवार समुदाय की तथा समुदाय राष्ट्र की।<sup>144</sup>

भारत में महिला नेतृत्व को यदि विश्लेषित करे तो सर्वप्रथम वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति अच्छी थी। विदुषी नारियों के रूप में गार्गी, अपाला, लोपामुद्रा, धोषा, मैत्रेयी आदि के उदाहरण के रूप में मिलती है। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अविवाहित रहकर शिक्षा एवं समाज का कार्य करती थी। शासन के क्षेत्र में गुप्तकालीन राजकुमारी प्रभावती का नाम उल्लेखनीय है जिसने अपने पति की वाकाटक नरेश रुद्रसेन की मृत्यु के बाद वाकाटक वंश की वधू के रूप में शासन को नेतृत्व प्रदान किया।<sup>145</sup> भारत के मध्य युगीन इतिहास में स्त्री दशा निम्न हो गई। निरन्तर विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों और विभिन्न मुस्लिम शासकों के शासनों के कारण समाज में कुछ ऐसी कुप्रथाएँ विकसित हो गई जिन्होंने भारतीय स्त्री की दशा को शोचनीय बना दिया। उनमें पर्दा प्रथा, बाल विवाह, स्त्री जौहर, देवदासी आदि सामाजिक कुरीतियाँ थी। इस काल में रजिया सुल्तान, चाँद बीबी, रानी दुर्गावती, अहिल्या बाई होल्कर, जीजा बाई (शिवाजी की माँ) जैसी महिलाओं ने भारतीय पटल पर अपना नाम दर्शाया। मीराबाई, सहजोबाई, लालदेह, अक्म्मा देवी जैसी अनेकानेक स्त्रियों ने विभिन्न परम्पराओं को तोड़ने का साहस किया।<sup>146</sup> स्वतंत्रता पूर्व भारतीय राजनीति में महिलाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है। परतन्त्रता के उस दौर में भी महिलाएँ राजनीति में सक्रिय थी। राजनैतिक क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्य से संघर्ष करने के साथ जनसाधारण को भी इस संग्राम से प्रेरित करने की दिशा में अरूणा आसफ अली, सरोजनी नायडू, एनीबेंसेट, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित सिस्टर निवेदिता, सुचेता कृपलानी और कमला देवी चटोपाध्याय आदि महिलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सन् 1857 की क्रांति में झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई बेगम हजरत

महल, बेगम जीनत महल, अवंतीबाई, रानी बैजाबाई, कु. मैना आदि अनेक महिलाओं ने अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया। पंडित रमा बाई, स्वर्ण कुमारी देवी, रानी स्वर्णमयी, रमा बाई, रानाडे, लेडी हरनाम सिंह, ऐनी बेसेन्ट, हंसा मेहता, शारदा बहन आदि ऐसी अनेक महिलाओं ने सामाजिक सुधार आन्दोलन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।<sup>147</sup>

महिलाओं के राजनीतिक नेतृत्व की मांग भारतीय महिलाओं की तरफ से 1917 में की गई, श्रीमति एनीबेंसेट 1917 में कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष बनी। 1919 में भारतीय शासन अधिनियम ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के समक्ष प्रस्तुत किया गया।<sup>148</sup> 1919 में श्रीमति एनीबेंसेट के नेतृत्वमें 'मताधिकार के प्रश्न पर' भारतीय महिलाओं का एक प्रतिनिधि मण्डल 'साउथ बोरो कमीशन' से मिला जो कि भारत आया हुआ था। इस क्षेत्र में मद्रास प्रथम राज्य था जिसने 1921 में महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया। अप्रैल 1926 में भारतीय महिलाओं को व्यवस्थापिका में बैठने का अधिकार प्रदान किया। 1957 में सम्पन्न चुनावों में 41 महिलाएँ सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों से तथा 8 सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों से जीती, जिनमें से एक मद्रास की प्रांत की तथा 7 संयुक्त प्रांत की थी। 1946 में जब जवाहर लाल नेहरू ने अन्तरिम सरकार का गठन किया, तब राजकुमार अमृतकौर प्रथम केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री बनी।<sup>149</sup> स्वतंत्र भारत में प्रथम लोकसभा की 499 सीटों के लिए 51 महिला प्रत्याशियों ने चुनाव लड़ा तथा 22 महिलाएँ लोकसभा की सदस्य बनने में सफल रही। इन 22 महिलाओं में से 2 महिला सांसदों की मंत्रिमण्डल में शामिल होने का अवसर प्राप्त हुआ जिनमें राजकुमारी अमृतकौर व मराथम चंद्रशेखर को मंत्री बनाया गया। राजकुमारी अमृतकौर स्वतंत्र भारत की प्रथम महिला कैबिनेट मंत्री रही।

1952 से लेकर अब तक महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का मूल्यांकन करे तो स्पष्ट होता है कि चाहे संख्यात्मक रूप से महिला प्रतिनिधित्व कम रहा लेकिन गुणात्मकता में महिलाओं ने कई कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

राष्ट्रपति पद पर प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमति प्रमिभा देवी सिंह पाटिल तथा प्रधानमंत्री पदपर श्रीमति इंदिरा गांधी का निर्वाचित होना व श्रीमति सोनिया गांधी का लगातार दस वर्ष तक कांग्रेस अध्यक्ष पद पर रहने का कीर्तिमान महिलाओं के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि हैं। अनेकों महिलाएँ केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में कैबिनेट, राज्य मंत्री तथा उपमंत्री रह चुकी है।<sup>150</sup>

### राजस्थान में महिला नेतृत्व :- विवेचन एवं विश्लेषण

राजस्थान में महिला नेतृत्व का स्तर यद्यपि उत्साहजनक नहीं है तथापि स्वतंत्रता पूर्व भी राजस्थान की राजनीति में महिलाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है। सामंतवादी परम्पराओं की जकड़न से प्रदेश का समाज ही नहीं अपितु राजनीति भी प्रभावित रही। यही कारण है कि प्रदेश में शासन-राजनीति में महिला नेतृत्व उपेक्षित रहा। प्राचीनकाल में प्रदेश की अनेक रानियाँ राज-काज में हस्तक्षेप करती थी। संरक्षिका के पद पर रहते हुए भी राजपूताने में राजमाताओं ने अपनी स्वतंत्र नीतियों का संचालन कर राज्य में अपनी प्रतिष्ठा को बचाने की कोशिश की।<sup>151</sup> जनाना ड्योढी की अन्य महिलाओं जैसे माजियों, पासवानों, पड्डापतों, बडारिनों, धाय और खवास ने भी शासन को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। रानियों में रानी भटियाणी, रानी चन्द्रावतीजी, हाड़ारानी, रानी लीलावती तथा हंसाबाई आदि ने अपनी कुशल नेतृत्व क्षमता तथा दूरदर्शिता का परिचय दिया। राजस्थान के इतिहास में रानी कर्मावती का भी उल्लेखनीय योगदान है।<sup>152</sup>

भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन में राजस्थान की महिलाओं ने सुश्री कालीबाई भील, रास्तापाल डूंगरपुर, श्रीमती नागेन्द्रबाला (कोटा) श्रीमती दुर्गादेवी, कोकिलादेवी, रमाबहिन देशपाण्डे, कमलादेवी, नारायणीदेवी वर्मा, सुमित्रा खेताना, प्रियवंदा चतुर्वेदी चतुर्वेदी, सरस्वती पाण्डे, डॉ. कमला बेनिवाल, राजमाता गायत्रीदेवी, श्रीमती रतन शास्त्री, श्रीमती सुमित्रा सिंह, श्रीमती श्यामलता व्यास, गीता बजाज, श्रीमती सत्यवती अग्रवाल, अंजना देवी चौधरी, वीरागंना काली देवी आदि ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया। राजस्थान में महिलाओं के स्वाधीनता आन्दोलन में नेतृत्व का प्रारम्भ खेतीहर आन्दोलन में उनके नेतृत्व के साथ हुआ। श्रीमती अंजना देवी चौधरी ने 1922 में बिजौलिया खेतिहर आन्दोलन में

महिलाओं का नेतृत्व किया। यह राजनीतिक जागरण की शुरुआत थी।<sup>153</sup> 15 अगस्त 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् राज्यपूताना राज्य के एकीकरण कार्य 1948 में प्रारम्भ होकर 1949 में समाप्त हो गया। स्वतंत्रोपरान्त राजस्थान में फरवरी 1952 में प्रथम आम चुनाव के साथ ही महिला नेतृत्व का सूत्रपात हुआ। श्रीमती यशोदा देवी राजस्थान की प्रथम महिला विधायक बनी जो कि बांसवाड़ा से निर्वाचित हुई। श्रीमती तारा भंडारी को प्रदेश विधानसभा की प्रथम महिला उपाध्यक्ष के पद पर सुशोभित हुई। प्रदेश की प्रथम महिला उपमुख्यमंत्री डॉ. कमला बेनीवाल ने राज्य की प्रथम महिला मंत्री होने का गौरव प्राप्त किया। श्रीमती सुमित्रा सिंह 12वीं विधानसभा (राजस्थान) की प्रथम महिला अध्यक्ष पद पर बनी। वर्ष 2003 में सम्पन्न बारहवीं विधानसभा चुनावों में बहुमत हासिल कर प्रदेश की प्रथम महिला मुख्यमंत्री बनी। श्रीमती राजे वर्तमान में भी इस पद पर आसीन हैं। व श्रीमती प्रतिभा पाटील को राजस्थान की प्रथम महिला राज्यपाल होने का गौरव प्राप्त हुआ है। महिलाओं की दिशा में एकदम और आगे बढ़ते हुए राजस्थान सरकार ने ऐतिहासिक पहल करते हुए पंचायतों में महिलाओं को 33 फीसदी आरक्षण से बढ़ाकर 50 फीसदी कर दिया।<sup>154</sup>

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में मूल अवधारणाओं पंचायती राज, सुशासन, सूचना का अधिकार एवं नेतृत्व का अवधारणात्मक विवेचन करते हुए राजस्थान में 2008 के विधेयक के अनुसार प्राप्त 50 प्रतिशत महिला नेतृत्व के उपरान्त ग्राम पंचायतों के अधिकार में हुई वृद्धि से महिला नेतृत्व एवं सुशासन को किस प्रकार बल एवं दिशा मिली है का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन अनुभवपरक वृत्त में आता है। अतः राजस्थान के अजमेर जिले के ग्राम पंचायतों में महिला नेतृत्व के उपरान्त हुए विकास के संकेतांक निर्धारित कर ग्रामीण सरकार में महिला सरपंचों के दृष्टिकोणों, अनुभवों एवं विचारों को प्राथमिक तथ्यों को लेने के लिए संकेताकों को आधार माना गया है।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. प्रो. पी.पी. गौर, प्रो. के.के. मराठा, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और ग्रामीण विकास, 2001, आदित्य पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ.सं. 1
2. आर. पी. जोशी, रूपा मंगलानी, पंचायती राज के नवीन आयाम, 2000, यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा.) लि., पृ.सं. 27-28
3. जनक सिंह मीणा, "राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं में निर्वाचन व्यवस्था : दशा और दिशा", धर्मवीर चन्देल, नत्थी लाल चतुर्वेदी (सं) भारत में पंचायती राज सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2012 पृ.सं. 158
4. राजस्थान सरकार, राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994, राज पंचायत प्रकाशन, जयपुर, धारा 14(2) पृ.सं. 6
5. धर्मवीर चन्देल, "भारत में पंचायती राज का उद्भव एवं विकास", धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी (सं) भारत में पंचायती राज सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2012, पृ.सं. 11-12
6. अल्लेकर, एस.एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एनशियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल, बनारसीदास, बनारस, संस्करण, 1955, पृ.सं. 231
7. के.पी. जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी : ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', इन हिन्दू टाइम्स, संस्करण, 1943, पृ.सं. 12
8. आर.सी. मजूमदार, एन एडवॉन्सड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1970, पृ.सं. 70
9. धर्मवीर चन्देल, "भारत में पंचायती राज का उद्भव एवं विकास", धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी (सं), भारत में पंचायती राज सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2012, पृ.सं. 14-15



10. आर.एल. खन्ना, पंचायती राज इन इण्डिया, अंबाला कैंट, दी इंग्लिश बुक डिपो, 1972, बम्बई, पृ.सं. 48
11. निर्मला सिंह, विनिता कुमारी, राजस्थान में पंचायती राज एवं महिला सशक्तीकरण, नवजीवन पब्लिकेशन, 2012, जयपुर, पृ.सं. 3
12. निर्मला सिंह, विनिता कुमारी, राजस्थान में पंचायती राज एवं महिला सशक्तीकरण, नवजीवन पब्लिकेशन, जयपुर, 2012, पृ.सं. 114
13. एन. सिबन्ना, 'पंचायती राज रिफॉम्स एण्ड रूरल डवलपमेंट, चुध पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 1990, पृ.सं. 42
14. महेन्द्र जैन, 'राजस्थान में पंचायती राज के दीप आलोकित' ग्रामीण न्यूज लेटर, ग्रामीण विकास मंत्रालय, खण्ड-2, अंक-7, जुलाई 1984, पृ.सं. 11
15. जगदीश कुमार, "राजस्थान में पंचायती राज व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ" रविन्द्र शर्मा, ओ.पी. शर्मा (सं.) भारतीय प्रशासन के पचास वर्ष, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृ.सं. 217
16. पूरणमल, 'पंचायती राज एवं महिला सशक्तीकरण' धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी (सं.), भारत में पंचायती राज सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2012, पृ.सं. 168
17. पूरणमल, 'नवीन पंचायती राज एवं महिला नेतृत्व, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2009, पृ.सं. 22
18. के.के. शर्मा, भारत में पंचायती राज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2010, पृ.सं. 51

19. धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी, "पंचायती राज आधी सफर एक सिंहावलोकन, धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी (सं) भारत में पंचायती राज : सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2012 जयपुर, पृ. सं. 231
20. अमरसिंह राठौड़, 'राजस्थान में पंचायती राज व्यवस्था सही अर्थों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण', सुजस, जनवरी फरवरी, 2010
21. जयराम पाण्डे, 'गाँधी एण्ड पंचायती राज', अनिल दत्ता मिश्रा, महादेव शिवप्पा दडागे (सं.), पंचायती राज, गाँधीयन प्रसपेक्टिव, मित्तल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2002, पृ.सं. 59-60
22. रमझी सिंह, 'पंचायती राज : ग्रासरूट ऑफ डेमोक्रेसी', अनिल दत्ता मिश्रा, महादेव शिवप्पा दडागे (सं.), पंचायती राज, गाँधीयन प्रसपेक्टिव, मित्तल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2002, पृ.सं. 3-6
23. दृष्टव्यः, राजस्थान सरकार के ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग के पत्रांक एफ 4(02) पंचायती राज सशक्त/2010/27, दिनांक 2.10.10 प्रथम पैरा
24. अशोक शर्मा, पंचायती राज में सुशासन न्यूनताओं का परिष्कार आवश्यक, धर्मवीर चन्देल, नत्थीलाल चतुर्वेदी (सं.), भारत में पंचायती राज सिद्धान्त एवं व्यवहार, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2012, जयपुर, पृ.सं. 44
25. सुनील गुप्ता, कमल किशोर सिंह, सुशासन उद्विकास, संकल्पना, अनुप्रयोग एवं अन्य सम्बन्धित अवधारणाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 31
26. मनोज सिन्हा, प्रशासन एवं लोकनीति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, 2010, नई दिल्ली, पृ.सं. 179-180

27. सुनील महावर, भारत में सुशासन एवं पंचायती राज संस्थाएँ, भूमिका संभावनाएँ और चुनौतियाँ, लोकतंत्र समीक्षा, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, 2012, पृ.सं. 21
28. वर्ल्ड बैंक, गवर्नेंस एण्ड डवलपमेंट, 1990, वर्ल्ड बैंक पब्लिकेशन, वॉशिंगटन डी.सी.
29. आर. एन. प्रसाद, गवर्नेंस ऑफ इण्डिया, इश्यूज एण्ड प्रसपेक्टिवज, कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2002
30. अशोक कुमार दुबे, 21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन, टाटा मेकग्रा हिल पब्लिशिंग, कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 101
31. ओ. पी. मिनोचा, 'गुड गवर्नेंस : न्यू पब्लिक मैनेजमेण्ट पर्सपेक्टिव, दी इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, जुलाई सितम्बर, 1998, पृ. 272
32. रिचर्ड जेफरिश, "अरबन पोपुलेशन एटीट्यूडस टुर्वाडस दी इकोनॉमिक रिकवरी प्रोग्राम एण्ड पी. एन. डी. सी. गवर्नमेंट इन धाबा", जर्नल ऑफ अफ्रीकन अफेयरस, 1992, वोल्यूम 91, पृ.सं. 207-226
33. गोरान हेडेन, मिचाइल ब्रेटेन (e.d.), गवर्नेंस एण्ड पॉलिटिक्स इन अफ्रीका, लयानी रिनर, लन्दन।
34. अशोक कुमार दुबे, 21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन, टाटा मेकग्रा हिल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2007, पृ.सं. 111
35. कैनेथस्टोव, "गुड पियानो वॉन्ट प्ले बेड म्यूजिक" : एडमिनिस्ट्रेटिव रिफॉर्म्स एण्ड गुड गवर्नेंस", पब्लिक एडमिनिस्ट्रेटिव रिफॉर्म्स एण्ड गुड गवर्नेंस", पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वोल्यूम 70, 1992, नं. 1, पृ.सं. 25-34
36. सी. पी. बर्थवाल, गुड गवर्नेंस इन इण्डिया, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2003, पृ.सं. 5-6

37. आशा कौशिक, 'गुड गवर्नेस एण्ड चैलेन्जेस फेंसिंग डेमोक्रेसी इन इण्डिया, बी.एम. शर्मा, रूपसिंह बारेठ (सं.) गुड गवर्नेस, ग्लोबलाइजेशन एण्ड सिविल सोसाइटी, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर और नई दिल्ली, 2004, पृ.सं. 41
38. सुनील गुप्ता, कमल किशोर सिंह, सुशासन उद्विकास, संकल्पना, अनुप्रयोग एवं अन्य सम्बन्धित अवधारणाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 33-34
39. अशोक कुमार दुबे, 21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन, टाटा मैकग्रॉहिल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 111
40. गीता, अध्याय-14, 24वां श्लोक
41. यजुर्वेद, अध्याय-20, 43वां श्लोक
42. मनु स्मृति, नवम, 324वां श्लोक
43. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रथम अध्याय-19, पृ.सं. 39
44. महात्मा गाँधी, स्वराज्य
45. अशोक कुमार दुबे, 21वीं शताब्दी में लोकप्रशासन, टाटा मैकग्रॉहिल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 111-112
46. ओ.पी. द्विवेदी, डी. एस. मिश्रा, ए गुड गवर्नेस मॉडल फॉर इण्डिया, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वोल्यूम L 1, नं. UD 05, पृ.सं. 754
47. अशोक मुखोपाध्याय, रिनिवेंटिंग गवर्नमेंट फॉर गुड गवर्नेस, आइजेपीए, जुलाई-सितम्बर, 1918, पृ.सं. 282
48. वर्ल्ड बैंक, गवर्नेस : दी वर्ल्ड बैंक एक्सपीरियन्स, वर्ल्ड बैंक पब्लिकेशन, वॉशिंगटन डी.सी.; 1994
49. संतोष कुमार, "गवर्नेस एण्ड पब्लिक पॉलिसी-वर्टिकल मीटिंग हॉरिजेन्टल, योजना (अंग्रेजी), जनवरी, 2013, पृ.सं. 21

50. अनिल विश्वास, 'करप्शन पार्टी-सिपेटरी डवलपमेंट एण्ड गुड गवर्नेस' योजना, जनवरी, 2013
51. ह्यूमन डवलपमेंट रिपोर्ट, डीपिंग ऑफ डेमोक्रेसी इन दी फ्रैगमेंटेड वर्ल्ड, यू.एन.डी.पी., 2002 ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.सं. 32
52. आर. बी. जैन, 'टुवार्ड्स गुड गवर्नेस : ए हाफ सेन्चुरी ऑफ इण्डियाज एडमिनिस्ट्रेटिव डेवलपमेंट, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वोल्यूम 24, 2001
53. एम. आरिज अहमद, 'गुड गवर्नेस थ्रू ट्रांसपरेन्सी', मैनेजमेंट इन गवर्नमेंट, वोल्यूम 31, नं. 3, अक्टूबर दिसम्बर, पृ.सं. 59-60
54. अशोक कुमार दुबे, 21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन टाटा मैकग्रॉहिल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 104
55. एम. जी. रमाकांत राउ, गुड गवर्नेस : मॉडर्न ग्लोबल एण्ड रीजनल प्रसपेक्टिव, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 8
56. सुनील गुप्ता, कमल किशोर सिंह, सुशासन : उद्विकास संकल्पना, अनुप्रयोग एवं अन्य सम्बन्धित अवधारणाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं.
57. विष्णु राजगढ़िया, अरविन्द केजरीवाल, सूचना का अधिकार, नई दिल्ली, 2007, पृ.सं. 40
58. अरुण पाण्डेय, हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.सं. 75
59. अरुणा रॉय, निखिल डे, "फ्रॉस इन्फारमेशन एकाउन्ट बिल्लीटि रिक्लेमिग डेमोक्रेसी, एम.के.एस.एस. (MKKS) स्टडी ऑफ राजस्थान (इण्डिया) 2000; <http://www.freedomdominfo.org/lane/mkss/bibliography.htm>

60. <http://NCW.nic.in/right.to-information.Act.pdf>.Accessedon20/12/11
61. <http://elarn.cdac.in/e-sikashk/rti/index.html>,Accessedon12/04/2012
62. शालू निगम, सूचना का अधिकार : कुछ सामाजिक व कानूनी पहलू, वी द पीपुल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2006, पृ.सं. 18
63. ओमप्रकाश गाबा, विवेचनात्मक राजनीति विज्ञान कोष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000, पृ.सं. 321
64. <http://elcarn.cdac.in/e-Sikshak/rtiindex.html>.Accessedon12/4/2012
65. एस. एल. गोयल, राइट टू इन्फॉर्मेशन एण्ड गुड गवर्नेन्स, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.सं. 35
66. अरुण पाण्डेय, हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.सं. 30
67. उपरोक्त, पृ.सं. 30
68. रमेश जैन, मीडिया कानून एवं सूचना की स्वतंत्रता, मंगलदीप पब्लिकेशन, जयपुर, 2004, पृ.सं. 376
69. उपरोक्त, पृ.सं. 378, 379, 380
70. आशा कौशिक, मानवाधिकार, बदलते सन्दर्भ, उभरते आयाम, पोइन्टर पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2004, पृ.सं. 225
71. अरुण पाण्डेय पूर्वोक्त, पृ.सं. 9, 67, 69
72. एन. के. जैन, राइट टू इन्फॉर्मेशन : कन्सेप्ट लॉ एण्ड प्रैक्टिस, रीगल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.सं. 4
73. आर. के. चौबे, सूचना का अधिकार विधि, इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 2012, पृ.सं. 9

74. प्रकाश कुमार एवं के.वी. राय, सूचना का अधिकार प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2010, पृ.सं. 11
75. राजेन्द्र पाण्डेय, सूचना का अधिकार, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2012, पृ.सं. 11
76. प्रकाश कुमार, के.बी. रॉय, पूर्वोक्त, पृ.सं. 15
77. अरूण पाण्डेय, हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.सं. 75
78. <http://fol-asia/india/Ajfullreportpdj>
79. विस्तृत देखे <http://www.indiafrindsAssociatedon.com/cgi.scripts/csNews/Newssuplead/what=20Else=is20Newf2edbMK55505RajE23pdf>.
80. विष्णु राजगढ़िया, अरविन्द केजरीवाल, सूचना का अधिकार, नई दिल्ली, 2007, पृ.सं. 40
81. <http://wwrrtd.nic.in/right/20tot.20infor-mation.htm/>
82. अरूणा रॉय, निखिल डे, "फ्रास इन्फॉर्मेशन एकाउन्ट विलिटी रिक्लेमिंग डेमोक्रेसी एम.के.एस.एस. (MKSS) केस स्टडी ऑफ राजस्थान इण्डिया 2000; <http://www.freedmdominfo.org/cane/MKSS/bibliography.htm>.
83. इस जनसुनवाई में भैरोनाथ एंड संस नाम की फर्जी कंपनी का खुलासा हुआ। इसने फर्जी बिलों के जरिए लगभग 36 लाख रुपये का भुगतान प्राप्त किया। कंपनी के मालिक व खण्ड स्तरीय अधिकारी के परिवारजन थे।
84. यह आँगनबाड़ी में हुयी गड़बड़ी से सम्बन्धित था जिसमें आँगनबाड़ी कार्यक्रमों में लगभग 14 लाख रुपये का घोटाला हुआ। वहीं पंचायत समिति की चारागाह भूमि को कोडियों के भाव बेच देने का मामला सामने आया।

85. अजमेर की जवाजा पंचायत समिति द्वारा किये गये कारनामों की पोल खोलने से सम्बन्धित है, जिससे घबराकर ग्रामसेवकों ने हड़ताल कर दी।
86. इसमें सरपंच लादूसिंह ने पारदर्शिता की मिसाल रखी तथा सभी गड़बड़ियों को जनता के सामने रखा।
87. हरिदास रामजी शेण्डे 'सुदर्शन', आम आदमी का संवैधानिक हथियार सूचना का अधिकार, अनु प्रकाशन, जयपुर, 2012, पृ.सं. 18-24
88. अशोक दुबे, 21वीं शताब्दी में लोक प्रकाशन, टाटा मेकग्रॉहिल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 223-241
89. गणेश पाण्डेय, अरूणा पाण्डेय, राजनीतिक समाजशास्त्र, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 350-351
90. <http://www.Sbifocanada.about.com/od/od/leadership/gllleadership/htm/Accessedon/15/9/2012>
91. <http://www.hw.link.com/donclark/leader/leadcom.htm/Accessedon/16/9/2012>
92. गणेश पाण्डेय, अरूणा पाण्डेय, राजनीतिक समाजशास्त्र, राधापब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं. 352-353
93. रॉबर्ट टेनीबाम, फ्रेड मासारिक, लीडरशिप : ए फ्रेम ऑफ रिफ्रेन्श, मैनेजमेंट साइन्स 4/5 अक्टूबर 1957
94. थियो हेमेन, प्रोफेशनल मैनेजमेंट : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, बोस्टन, 1966, पृ.सं. 440
95. किम्बल यंग, हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकॉलोजी, रूटलेज एण्ड पॉल लंदन, 1957, पृ.सं. 251
96. ऑडवे टीड, दी आर्ट ऑफ लीडरशिप, मैकग्रोहिल, न्यूयॉर्क, 1935, पृ.सं. 20



97. हैरोल्ड कून्ज, साइरिल ओ. डॉनेल, प्रिन्सिपल ऑफ मैनेजमेंट : एन एन्लाईसेज ऑफ मैनेजरियल फंक्शन, मैकग्रोहिल, न्यूयॉर्क, 1955, पृ.सं. 69
98. आर.एम. मैकाइवर, सी.एच. पेज, सोसाइटी, मैकमिलन एण्ड कंपनी लंदन, 1952, पृ.सं. 46
99. चेस्टर ईरविंग बर्नाड, द फंक्शन ऑफ द एकजक्यूटिव, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, यू.एस.ए., 1968, पृ.सं. 83
100. जे.डी. मूने, ए.सी. रेले, ऑनवर्ड इण्डस्ट्री, हॉरपर एण्ड रो, न्यूयॉर्क, 1931, पृ. सं. 32-33
101. लेनडल एफ. उर्रिक, दी एलिमेन्ट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, हॉरपर एण्ड ब्रास, न्यूयॉर्क, 1931, पृ.सं. 38
102. आर. टी. लॉपियर, पी. आर. फ्रान्सवर्थ, सोशल साइकोलॉजी, मैकग्रोहिल, न्यूयॉर्क, 1949, पृ.सं. 254
103. डेविड क्रेच, रिचर्ड एस. क्रेचफील्ड, इन्डीविजुअल इन सोसाइटी, मैकग्रोहिल बुक कम्पनी, न्यूयॉर्क, 1962, पृ.सं. 423
104. अरनॉल्ड टेननबाम, लीडरशिप : साइकोलॉजिकल आस्पेक्ट, इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्स, मैकमिलन फ्री प्रेस, लन्दन, 1968, पृ.सं. 9
105. मुज्जफर शेरिफ, केरोलिन डब्ल्यू. शेरिफ, सोशल साइकोलॉजी, हॉरपर एण्ड रो, न्यूयॉर्क, 1969, पृ.सं. 170
106. आर.जी. फोटी, एन.एम.ए., हॉन स्टिटन, पैटर्न एण्ड वैरिबल अप्रौक्स इन लीडरशिप इर्मजेनस एण्ड इफैक्टिवनेस, जनरल ऑफ एप्लाइड साइकोलॉजी, 2007, पृ.सं. 347-355

107. <http://222.changingminds.org/diciplines/leadership/styles/situationlleadership.htm/Accssedon8/8/2012>
108. <http://www.businessballs.com/leadership-theories.htm#integrated-psychological-leadership>.Accssedon28/8/2012
109. फिलमोर एच. सेनफोर्ड, लीडरशिप आइडिन्टीफिकेशन एण्ड एक्सपेटेशन, हरॉल्ड गुटज्को (सं.), इन गुप्स लीडरशिप एण्ड मेन, कॉरनेगी प्रेस, पिट्सबर्ग, 1951, पृ.सं. 259
110. नितीन नोहरिया, राकेश खुराना (सं.) हैण्डबुक ऑफ लीडरशिप थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, हावर्ड बिजनेस प्रेस, बोस्टन, 2010, पृ.सं. 411
111. इन्गोविनक्लर, कन्टेमप्ररी लीडरशिप थ्योरीज : इनहैन्सिंग दी अन्डरस्टैण्ड ऑफ दी कॉम्प्लेक्सिटी, एब्जेक्टिवटी एण्ड डायनामिक ऑफ लीडरशिप, फिजिका—वैरलैग ए स्प्रिंगर कम्पनी, न्यूयॉर्क, 2010, पृ.सं. 47
112. <http://www.psychology.about.com/od/leadership/p/leadtheories.htm/ Accssedon/9/5/2011>
113. पीटर जी. नार्थहाउस, लीडरशिप : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, सेज पब्लिकेशन्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, न्यू दिल्ली, 2010, पृ.सं. 125–131
114. रॉबर्ट एन. लूरियर, क्रिस्टोफर एफ. अचुवा, लीडरशिप : थ्योरी एप्लिकेशन एण्ड स्किल डेवलपमेन्ट, साउथ—वेस्टर्न एज्युकेशन पब्लिशिंग, मसन, यू.एस. ए., 2009, पृ.सं.164
115. डगलस मेकग्रेगर, दी ह्यूमन साइड ऑफ इण्टरप्राइस, मैकग्रीहिल, न्यूयॉर्क, 1960, पृ.सं. 182
116. एफ.सी. बार्टलेट, दी सोशल साइकोलॉजिकल टाइम्स, रूटलेज एण्ड पॉल, लन्दन 1922, पृ.सं. 15

117. विलियम मार्टिन कोनवे, द क्राउड इन पीस एण्ड वॉर लॉन्गमैन्स, लन्दन, 1915, पृ.सं. 145
118. आर. डब्ल्यू. नेफ., साइकोलॉजिकल डिस्क्रीप्शन ऑफ लीडरशिप, जनरल ऑफ सोशल साइकोलॉजी, 1930, पृ.सं. 266
119. ए.बी. वुल्फ, कन्जरवेशन, रेडीकलिजम एण्ड साइन्टिफिक मैथेड, मैकमिलन कम्पनी, लन्दन, 1923, पृ.सं. 354
120. सी.सी. जुग., साइकोलॉजिकल टाइम्स, रूटलेज एण्ड पॉल, लन्दन, 1922, पृ. सं. 15
121. मरशिया स्मार्ट, दी हिडेन पॉवर ऑफ इनफॉर्मल लीडरशिप, एज्यूलॉन प्रेस, यू.एस.ए. 2010, पृ.सं. 35
122. थियो हेमेन, प्रोफेशनल मैनेजमेंट : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, बोस्टन, 1966, पृ.सं. 450
123. हॉरबर्ट एलेक्जेण्डर साइमन, डोनल्ड डब्ल्यू स्मिथबर्ग एण्ड क्विटर एलेक्जेण्डर थॉम्पसन, पब्लिक एडमिनीस्ट्रेशन, ट्रान्जक्शन पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1950, पृ.सं. 104
124. विलियम एम. प्राइड, रॉबर्ट जे. हगिज एण्ड जैक आर. कपूर, बिजनेस, साउथ-वेस्टर्न केनगेज लर्निंग, मसन, यू.एस.ए., 2012, पृ.सं. 179
125. रोगर गिल, थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ लीडरशिप, सेज पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, 2006, पृ.सं. 45
126. रॉबर्ट एन. लूशियर, क्रिस्टोफर एफ. अचुवा, लीडरशिप : थ्योरी, एप्लिकेशन एण्ड स्किल डेवलपमेन्ट, साउथ-वेस्टर्न एज्युकेशन पब्लिशिंग, मसन, यू.एस. ए., 2009, पृ.सं. 163

127. रीचर्ड एल. डॉफ्ट, पैट्रीशिया जी. लेन, दी लीडरशिप एक्शापिरियन्स, साउथ-वैस्टर्न एज्यूकेशनल पब्लिशिंग, मसन, यू.एस.ए. 2007, पृ.सं. 44
128. सीरियल हैमिल्टन, कम्यूनिकैटिंग फॉर रीजल्ट : ए गाइड फॉर बिजनेस एण्ड दी प्रोफेशनस, वुडस्वर्थ केनगेज लर्निंग, बोस्टन, यू.एस.ए., 2011, पृ.सं. 271
129. मॉण्डट गोमेरी वेन वार्ट एण्ड पॉल सुईनो, लीडरशिप इन पब्लिक ऑर्गेनाइजेशन : एन इन्ट्रोडक्शन, एम.ई. शॉप इन्क, न्यूयॉर्क, 2012, पृ.सं. 4
130. डेविड वी.डे., जॉन एण्टोन्किस (सं.), दी नेचर ऑफ लीडरशिप, सेज पब्लिकेशनस, न्यू दिल्ली, 2012, पृ.सं. 411
131. रोजमेरी रियान, लीडरशिप डेवलपमेन्ट, बटरवर्थ हैनीमैन, बुर्लिंगटन, 2008, पृ.सं. 185
132. ब्रुस मार्टिन, क्रिस्टाइन कैशल, मार्क वैगस्टॉक, मैरी ब्यूईंग, आउटडोर लीडरशिप : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, ह्यूमन केनेटिक्स, यू.एस.ए., 2006, पृ.सं. 106
133. रॉबर्ट एम. वाल्ड, रॉय ए. डोटी, दी टॉप एकजक्यूटिव : ए फर्स्ट हैण्ड प्रोफाइल, हॉरवर्ड बिजनेस रिव्यू, xxxii, जुलाई-अगस्त, 1954, पृ.सं. 53-54
134. चेस्टर इरविंग बनार्ड, ऑर्गेनाइजेशन एण्ड मैनेजमेंट : सेलेक्टेड पेपर; ईयरली सोश्लॉजी ऑफ मैनेजमेंट एण्ड ऑर्गेनाइजेशन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, यू.एस.ए., 1948, पृ.सं. 102
135. हेनरी फेयोल, जनरल एण्ड इन्डस्ट्रीयल मैनेजमेंट, पीटमैन एण्ड सन्स लिमिटेड, लन्दन, 1949
136. फील्ड मार्शल सर विलियम्स स्लिम, लीडरशिप एन एड्रेस टू दी सीडनी, डीविजन ऑफ दी ऑस्ट्रेलियन इन्सटीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट नवम्बर, 1953

137. सी. लक्ष्मण नॉलेज लीडरशिप : टूल्स फॉर एक्ज्यूटिव लीडर्स, सेज पब्लिकेशन्स लिमिटेड, न्यू दिल्ली, 2008, पृ.सं. 10
138. <http://www.groco.com/readingroom/bus-goodleader.aspx/Accessedon24/7/2011>
139. एल. एफ. उर्विक, लीडरशिप, इन द ट्वेन्टीयथ सेन्चूरी, पीटमैन एण्ड सन्स लिमिटेड, लन्दन, 1962, पृ.सं. 19–52
140. करीन किलन्की, वूमेन एण्ड लीडरशिप : ए कॉन्टेक्जुअल प्रसपेक्टिव, स्प्रिंगर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयॉर्क, 1996, पृ.सं. 62
141. <http://www.entrepreneur.com/article/204248/Accessedon/2/2/2012>
142. <http://www.expertmagazine.com/EMonLine/03/03/finishline.htm/Accessedon9/1/2012>
143. बस मार्टिन, क्रिस्टाईन कैशल मार्क वैगस्टॉक एण्ड मेरी ब्यूईंग, आउटडोर लीडरशिप : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, ह्यूमन केनेटिक्स, यू.एस.ए., 2006, पृ.सं. 83
144. प्रज्ञा शर्मा, महिला विकास और सशक्तिकरण, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2001, पृ.सं. 1
145. राकेश द्विवेदी, महिला सशक्तिकरण : चुनौतियाँ एवं रणनीतियाँ, पूर्वाशा प्रकाशन, भोपाल, 2005, पृ.सं. 24
146. प्रीतिप्रभा गोयल, भारतीय नारी विकास की और : महिला सशक्तिकरण संदर्भ, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2009, पृ.सं. 231–232
147. स्वप्निल सारस्वत, निशांत सिंह, समाज, राजनीति और महिलाएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2009, पृ.सं. 18–19
148. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीति, हिन्दी माध्यम, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2001, पृ.सं. 34

149. सुशीला नैय्यर, कमला मनकेकर (सं.) भारतीय पुर्नजागरण में अग्रणी महिलाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली, 2005, पृ.सं. 311
150. राजबाला दी लीगल एण्ड पॉलिटिकल स्टेट्स ऑफ वीमेन इन इण्डिया, मोहित पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1999, पृ.सं. 223
151. प्रमिला पूनिया, राजस्थान के इतिहास में रानियों की भूमिका, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 2002, पृ.सं. 120
152. राजस्थान का इतिहास कोश, पृ.सं. 186 विस्तृत देखे।
153. हिस्टरी ऑफ मूवमेन्ट, फेज IIIRIV4V, फाइल सं. 70/3 न्यू देहली
154. नर्बदा इन्दौरिया, राजस्थान की महिला सांसद और विधायक, विधान बोधनी, त्रैमासिक पत्रिका, राजस्थान विधानसभा सचिवालय, जयपुर, वर्ष-1, जनवरी 2001, अंक-1, पृ.सं. 22